द्रव्य सहायिका धर्मशीला सुश्राविका श्रीमती पतासबाई, मातेश्वरी श्रीमान् सेठ मिलापचन्दजी सा. बोहरा, मंड्या जिला—मैसूर



न्योछावर एक रुपया मात्र

प्रथमावृत्ति १५००

वीर संवत् २४९३
विक्रमसंवत् २०२३
दिसंबर १९६६

संघ का यह प्रकाशन



दर्शन-मोहनीय कर्म के उत्कट उदय से, जीवरूपी चन्द्रमा मिथ्यात्वरूपी राहु से ग्रसित होकर, विद्रूप होकर हिताहित का विवेक खो देता है। इस मिथ्यादृष्टि के कारण मित्ररूप सम्यक्त्व को शत्रु और शत्रुरूप मिथ्यात्व को मित्र मानने लगता है। कई बार सम्यक्त्वी मनुष्य भी कांक्षामोहनीय कर्म के उदय से डिगमिगाकर चञ्चल होजाता है, उसकी श्रद्धा की नींव हिलने लगती है। जब उसके सामने अपने ही धर्म के विविध पक्षो के मन्तव्यभेद, आचारभेद और प्रचारभेद आता है, तो सामान्य विचारक चक्कर मे पड़ जाता है। वह सोचता है कि एक ही जिनधर्म मे यह विविधता क्यो ? एकरूपता क्यो नही ? इनमे से सत्य क्या और असत्य क्या ? ऐसे समय यदि बुद्धि काम नही दे, तो मन को आश्वस्त करके स्थिर रखने के लिए भगवतीसूत्र श. १ उ. ३ मे गणधर भगवान् गौतम-स्वामीजी म० के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर प्रभु ने सरल मार्ग बतला दिया है। वह इस प्रकार है,—

"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"—जिनेश्वर भगवान् ने जो निरूपण किया है, वही सत्य और सन्देह रहित है। इस प्रकार मन मे धारण करता हुआ जीव, आज्ञा का आराधक होता है।

मनुष्य, प्रत्येक विषय मे अपनी बुद्धि से निर्णय करना

चाहता है। वह तत्त्व की थाह लेने का प्रयत्न करता है, किन्तु सभी मनुष्य सही निर्णय पर ही पहुँचते हैं—ऐसी बात नही है। बहुत से गलत विचारधारा मे पडकर अन्यथा मार्ग ले लेते हैं। बहुत थोडे लोग ही सही मार्ग पा सकते हैं।

सम्यक्त्व का विषय सरल भी है और विकट भी। जो "**तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं**"—को दृढता पूर्वक हृदय मे रखकर वैचारिक भूलभुलय्या से बचता है, उसके लिए सरल है और तर्क-वितर्क मे पडकर उलझता है, उसके लिए विकट है। उस विकट मार्ग को पारकर सही मार्ग पर दृढता पूर्वक चलते रहने का निमित्त इस पुम्तक ने प्रस्तुत किया है। 'सम्यक्त्व-विमर्श' लेखमाला सम्यग्दर्शन मे प्रकाशित हो चुकी थी। यह लेखमाला सम्यक्त्वरूपी आत्म-रत्न को सुरक्षित रखकर जिज्ञासुओ को पूर्ण सतुष्ठ करेगी—ऐसा हमारा विश्वास है। जैनत्व की श्रद्धा, जैनो के हृदय मे दृढतर जमाने वाली हमारे समाज मे अपने विषय की यह अपूर्व पुस्तक है।

संघ का प्रकाशनकार्य धीमी गति से किंतु प्रगति के पथ पर आगे बढ रहा है। सघ के प्रकाशनो से समाज का श्रद्धालुवर्ग लाभान्वित हो रहा है। यह हमारे लिए प्रसन्नता की बात है। संघ चाहता है कि धार्मिक साहित्य अधिक मात्रा मे समाज की सेवा मे सर्मपित करे।

इसके प्रकाशन मे प्रियधर्मी श्रीमान् सेठ मिलापचंदजी साहब मंडया निवासी की धर्मशीला मातेश्वरी श्रीमती पतास बाई ने पूरा खर्च प्रदान कर अपने धर्म-प्रेम और उदारता का

परिचय दिया है । इसीसे यह आधे मूल्य मे समाज को अर्पित की जा रही है। इसकी बिक्री से प्राप्त रकम भी पुस्तक प्रकाशन मे ही लगेगी। आशा है कि समाज के अन्य धर्म-प्रेमी गण आपका अनुकरण कर धर्म-सेवा मे उदारता पूर्वक योगदान करेगे ।

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन
सस्कृति रक्षक सघ
सैलाना (म प्र.)

मानकलाल पोरवाड़ B. Sc. L. L. B.
एडवोकेट धार–अध्यक्ष
रतनलाल डोशी–प्रधान मन्त्री
बाबूलाल सराफ, धार–मन्त्री
जशवतलाल शाह, बम्बई–मन्त्री



मेरा निवेदन



आदरणीय धर्मबन्धुओ !

मेरी मातेश्वरी के शरीर मे व्याधि उत्पन्न हुई, तब उनकी इच्छा हुई कि मनुष्य जीवन पाकर यथासंभव धर्मसेवा करनी चाहिए। उन्होने कहा—"अपने समाज मे धर्मभावना बहुत कम होती जा रही है। जो धर्मप्रेम २५, ३० वर्ष पहले दिखाई देता था, वह अब दिखाई नही देता। जिनके माता-पिता और दादा दादी धर्मपरायण थे, उनके पुत्र पौत्रो मे धर्मभावना नही रही। वे धर्म से वचित रहने लगे और कोई अंट-सट बाते कर के धर्म की निन्दा भी करते है। यह दशा देखकर दुःख होता है। ऐसे लोगो को समझाने और धर्मभावना को जमाने के लिए ज्ञान का प्रचार होना जरूरी है। धर्म पर श्रद्धा जमाने के लिए वैसी पुस्तक का प्रचार हो, तो उसे पढकर समझदार लोग अपने धर्म मे विश्वास करे, उनके मनमें धर्म का प्रेम बढे।" उनकी ऐसी भावना देखकर मैंने कहा—"आपकी आज्ञानुसार वैसी पुस्तक का प्रचार किया जायगा।" थोडे ही दिन बाद 'सम्यग्दर्शन' मे "सम्यक्त्व-विमर्श" के प्रकाशन की बात पढने में आई। मैंने सोचा—यह पुस्तक हमारे धर्मबन्धुओ के लिए बडी उपयोगी होगी। इसमे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का विस्तार के साथ हृदयस्पर्शी विवेचन हुआ हैं। यदि यह पुस्तक प्रचारित

की जाय और साथ ही अल्प मूल्य में धार्मिक साहित्य का प्रचार किया जाय तो लाभ हो सकता है। मैंने श्रीडोसीजी साहब को मातेश्वरी की आज्ञानुसार स्वीकृति भेजते हुए शीघ्र ही पुस्तक प्रकाशित करने का आग्रह किया। मेरा पत्र पहुँचते ही आपने कार्य प्रारंभ कर दिया और अन्य पुस्तक का मुद्रण रोक कर इसकी छपाई करके पूर्ण किया। परिणाम स्वरूप यह पुस्तक पाठको के सामने उपस्थित हुई है। यदि पाठक इसे ध्यान पूर्वक पढेगे, तो उन को लाभ होगा और मेरी मातेश्वरी की भावना सफल होगी।

मेरी मातेश्वरी की इच्छा तो बिना मूल्य के ही पुस्तक देने की थी और मैंने यह बात श्रीडोशीजी साहब के सामने रखी, किंतु आपने कहा–'बिना मूल्य की पुस्तक व्यर्थ बहुत जाती है, इसलिए थोडा मूल्य रखकर देना ठीक रहेगा। उसकी बिक्री से प्राप्त रकम दूसरी पुस्तक के काम मे आ सकेगी।' मातेश्वरी की इच्छा को सफल करने के लिए मैंने **"श्रीमती पतासबाई पुस्तकमाला"** चालू करने का विचार किया है, जिसकी यह प्रथम पुस्तक है। इसके बाद योजना स्थिर कर, दूसरी पुस्तक के विषय में विचार किया जावेगा।

मिलापचंद बोहरा
पिसागन (अजमेर)
व्यापार स्थल–मंड्या (मैसूर)

लेखक की ओर से—



सम्यक्त्व का विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है। धर्म का आधार और द्वार ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के द्वार मे प्रवेश करके ही धर्म के भव्य भवन मे प्रवेश किया जा सकता है। सम्यक्त्व की भूमिका पर रहनेवाला ही मोक्ष-सुमेरु के शिखर पहुँच सकता है। अतएव प्रत्येक जैन धर्मानुयायी को सम्यक्त्व का विषय समझना परमावश्यक है। सम्यक्त्व, मोक्ष की पक्की गारटी है। जिसने सम्यक्त्व का एक बार, थोडी देर के लिए भी स्पर्श कर लिया, उसने मोक्ष मे अपने लिए स्थान बना लिया। सम्यक्त्वी के लिए मोक्ष की गारटी, तीर्थंकर भगवान् ने दी है और आगम तथा अन्य शास्त्र इसके साक्षी हैं। सम्यक्त्व से रहित जीव की साधना, आराधना से वचित रहती है। कठोर एव उग्र साधक भी सम्यक्त्व के अभाव मे विराधक ही रहता है।

'सम्यक्त्व' के विषय को स्पष्ट करने के लिए, सम्यग्-दर्शन वर्ष ८ सन् १९५७ के प्रारंभ—ता. ५—१—५७ के प्रथम अंक से ही "सम्यक्त्व विमर्श" शीर्षक एक लेखमाला चालू की थी, जो वर्ष ९ अंक २४ ता. २०—१२—५८ तक बराबर चलती रही। जब यह लेखमाला चल रही थी, तभी कई पाठको और सौराष्ट्र के कुछ संतो की ओर से इस पर विशेष रुचि, और लेखमाला को पुस्तक के रूप मे देखने की अभिलाषा व्यक्त हुई

थी। आदर्श श्रावक श्रीयुत मोतीलालजी सा. मांडोत ने तो अनेक बार आग्रह किया, किंतु मैं टालता रहा। मैं चाहता था कि इस लेखमाला का किसी अधिकारी विद्वान द्वारा अवलोकन होकर संशोधन हो जाने के बाद प्रकाशन होना ठीक होगा। इसी विचार से धकाता रहा, किंतु वैसा सुयोग प्राप्त नही हो सका। इधर श्री मांडोत साहब का आग्रह चल ही रहा था। मैंने भी सोचा–संशोधन की सुविधा मिलना सरल नही है। अतएव प्रकाशन के विचार को मूर्त्त रूप दिया।

उपरोक्त लेखमाला के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन वर्ष १० अंक १० का 'सम्यग्दृष्टि का निर्णय,' वर्ष ११ अंक १७ का 'केवल ज्ञान के समान,' वर्ष ११ अंक ९ से १४ तक की "स्व-पर विवेक" लेखमाला, वर्ष १५ से 'सम्यक्त्व संवर' का कुछ अंश और वर्ष १६ अंक ४, ५, १३, १४ और १५ की प्रश्नोत्तरमाला भाग १ के प्रश्नोत्तर भी लिये है। इसके सिवाय 'सम्यक्त्व महिमा' की गाथाएँ और श्लोक, भिन्न अको और अन्य साहित्य मे से संग्रहित कर के दिये हैं। उन लेखो मे उचित संशोधन भी किया है। मैंने अपनी समझ के अनुसार इस विषय को निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी मैं अल्पज्ञ हूँ, मुझ से भूलें हुई होगी। यदि कोई महानुभाव भूल सुझाने की कृपा करेगे, तो मैं उनका उपकार मानूंगा।

सम्यक्त्व के विषय मे मैं अल्पज्ञ क्या लिखूं। यह कार्य धुरन्धर विद्वानो का है। अधिकारी विद्वान इस विषय मे जितना भी लिखें, थोडा है। चारित्र, विरति और कथा आदि विषयक साहित्य की अपेक्षा, सम्यक्त्व के विषय मे अधिकाधिक प्रयास

होना था, किंतु हमारे समाज मे इस विषय मे कोई खास प्रयत्न नही हुआ। समकित के ६७ बोल और कुछ बोलो के सक्षिप्त प्रचार के सिवाय इस विषय मे विशेष विवेचन युक्त एक पुस्तक भी देखने मे नही आई। न उपदेशो मे सम्यक्त्व के विषय मे श्रोताओ को विस्तार से समझाया गया। अतएव यह पुस्तक हमारे स्था० जैन समाज मे अपने विषय की पहली ही है। उपयोगिता की दृष्टि से यह पुस्तक धार्मिक पाठ्यक्रम मे रखने योग्य है। किंतु परिस्थिति अनुकूल नही होने से एव समाज के कर्णधारो का रुख सर्वथा विपरीत होने के कारण उपेक्षित रहेगी। फिर भी धर्म-प्रेमी एवं परम्परा मे श्रद्धा रखनेवाला वर्ग अवश्य ही इससे लाभान्वित होगा, इसमे सन्देह नही।

'सम्यक्त्व विमर्श' प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त करते हुए प्रकाशन व्यय दाता उदार महानुभावो मे सम्यग्दर्शन द्वारा जाहिर निवेदन किया गया, तो सुश्राविका श्रीमती पतास बाई, मातेश्वरी श्रीमान् सेठ मिलापचन्दजी सा बोहरा मंड्या (मारवाड मे पिसागण) निवासी की ओर से १५०० प्रतियो का व्यय देने की स्वीकृति प्राप्त होगई। मेरा विचार केवल एक हजार छापने का ही था, किंतु सेठ मिलापचदजी साहब के आग्रह से ५०० विशेष छापनी पडी।

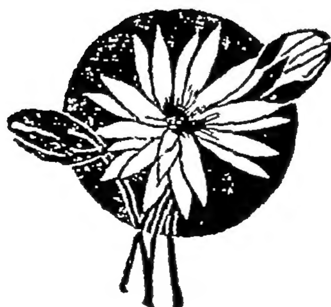
श्रीमती पतासबाई उदार हृदया सुश्राविका है। वे व्रत नियम और आचार का निष्ठापूर्वक पालन करती रही हैं। आपकी इच्छा धार्मिक साहित्य प्रकाशन करने के लिए सघ को एक मुश्त रकम प्रदान करने की है। अल्प मूल्य मे आगमोक्त साहित्य प्रचार करने के लिए आप अच्छी रकम प्रदान करने

वाली है। आपकी भावना को सफल करने के लिए आपके सुपुत्र श्रीमान् सेठ मिलापचन्दजी साहब सदैव तत्पर रहते हैं। आपकी इच्छानुसार सघ ने—'श्रीमती पतासबाई बोहरा जैन ग्रंथमाला' चालू करने का निश्चय किया है। यह पुस्तक उस ग्रंथमाला का प्रथम रत्न होगो। इसका मूल्य लागत से आधा ही रखा जा रहा है। और जो धर्मबन्धु और बहिने पर्वाधिराज पर व्याख्यान देने जाते हैं, उन्हे तथा वैसे उपयोगीजनो को अमूल्य भेट देने की व्यवस्था है।

आशा है कि धर्मप्रिय महानुभाव इससे अवश्य लाभान्वित होगे।

सैलाना (म. प्र.)
मार्गशीर्ष शु० ४ शुक्रवार
वीर सं २४९३ वि सं २०२३
१६-१२-१९६६ ई.

रतनलाल डोशी



विषयानुक्रमणिका–



सम्यक्त्व विमर्श



परमत्थसथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावण्णकुदंसण-वज्जणा, य सम्मत्त-सद्दहणा ॥

–परमार्थ का १ संस्तव–परिचय एवं कीर्तन करना, २ सुदृष्ट–परमार्थ के ज्ञाता की सेवा करना, ३ सम्यक्त्व से पतित की संगति का त्याग करना और ४ कुदर्शन–मिथ्यादर्शनी की सगति का त्याग करना। (उत्तराध्ययन २८)

जीव, बेभान अवस्था मे अनन्त काल रहा। अनादि काल से जीव मिथ्यात्व की अवस्था में रहता आया। जीव का अधिकांश काल असंज्ञी अवस्था मे ही गुजरा, जिसमे किसी विषय पर विमर्श करने की शक्ति ही नही थी। मन के अभाव मे वह किसी विषय पर विमर्श कर ही नही सकता था। सम्यक्त्व ही क्या, वह मिथ्यात्व के विषय मे भी नही सोच सकता था।

उसकी मूढतम दशा थी। जिस ओघ संज्ञा में लग गया, उसी मे लगा रहा। श्रवणेन्द्रिय प्राप्त होने पर श्रवण शक्ति उद्भूत हुई, तो मन के अभाव मे श्रवण भी व्यर्थ-सा रहा। जब मनन करने की शक्ति मिली, तो शरीर और इन्द्रियादि तथा कषायादि पर ही विमर्श होता रहा। कुछ आगे बढे, तो मिथ्यात्व (अतत्त्व) पर विमर्श होता रहा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि के विषय मे ही विचारणा चलती रही। चारो गति मे खाना, पीना, संग्रह करना, काम-साधना और प्राप्त का सरक्षण तथा परि-वर्द्धन—यही जीव की प्रवृत्ति रही। सिद्धात है कि चारो गति के जीव—१ आहार संज्ञा, २ भय संज्ञा, ३ मैथुन सज्ञा और ४ परि-ग्रह संज्ञा मे लगे हुए हैं। अर्थ और काम पुरुषार्थ मे ही जीव उलझा रहा और इसी विषय मे विचार-विमर्श करता रहा। जीव ने धर्म के विषय मे सोचा ही नही। यदि सोचा भी, तो धर्म के रूप मे प्रचलित अधर्म की भूल भुलैया मे पड गया। मिथ्यात्व को ग्रहण करके अभिग्रहित मिथ्यात्वी बन गया। कभी सम्यक्त्व रूपी सूर्य का प्रकाश पाया ही नही। जब अकाम निर्जरा से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की ६९ कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण अत्यत दीर्घ स्थिति के कर्म खपा दिये और मात्र एक कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर्म अवशेष रहे, तब भव्य जीव ने अपूर्वकरण करके सम्यक्त्व सूर्य का प्रथम दर्शन किया।

मिथ्यात्व, ससार चक्र मे फँसाये रखने वाला है और सम्यक्त्व, मोक्ष के परम सुख प्रदान कर आत्मा को परमात्मा बनाने वाला है। मिथ्यात्व मारक है और सम्यक्त्व रक्षक है।

अतएव सम्यक्त्व की प्राप्ति, संरक्षण एवं दृढीकरण के लिए सम्यक्त्व के विषय मे विचार-विमर्श करना अत्यावश्यक है। मिथ्यात्व दशा मे तो अर्थ और काम पुरुषार्थ पर ही विमर्श हुआ, परन्तु सम्यक्त्व पाने के बाद अब धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ पर विचार-विमर्श करना है। अनादि काल से आत्मा ने कर्म की शिक्षा ली, किन्तु अब तो धर्म की–कर्म से एकदम उल्टी शिक्षा लेनी है। कर्म की शिक्षा, ससार को दीर्घ से दीर्घतर करने वाली है, तब धर्म की शिक्षा ससार की जड़ काटकर अजर अमर बनाने वाली है।

मिथ्यात्व दशा में स्वार्थ संस्तव था। सम्यक्त्व प्राप्त होने पर अब परमार्थ संस्तव करना आवश्यक है। मिथ्यात्व में कुदृष्टा एवं स्वार्थ सेवा थी, तब सम्यक्त्व मे सुदृष्ट परमार्थ सेवन हितकर है। मिथ्यात्व दशा, कुदर्शनी एवं दर्शन-भ्रष्ट की संगति कराने वाली है, तब सम्यक्त्व, उस कुसंगति का त्याग करवाकर आत्मा को पवित्र होने की स्थिति में लाने वाली है। सम्यक्त्व का काम आत्मा की दिशा बदलकर सही मार्ग का दर्शन करवाना है। अतएव सम्यक्त्व के विषय में विमर्श करना आवश्यक है।

यथार्थ दृष्टि की आवश्यकता

संसार मे जितने भी झगडे होते हैं, उनमें दृष्टि-भेद ही मूल कारण होता है। चाहे सामाजिक हो, या राज-

नैतिक अथवा धार्मिक। विभिन्न दृष्टिकोण के कारण ही भेद बढते हैं और बढते बढते कलह और युद्ध तक की नौबत आजाती है। ससार मे जितने भी वाद है, उन सबके मूल मे यही कारण कार्य कर रहा है। जबतक दृष्टि-भेद रहे तबतक वर्ग-भेद भी रहेगा ही। कोई चाहे कि 'समस्त दुनिया एक ही विचार की बनजाय,' तो यह केवल 'खयाली पुलाव' ही है। ऐसा न तो कभी हुआ, न होगा ही। जहा एक तरह की परिणति हो, वहा साम्यता हो सकती है। यद्यपि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीवो मे भी अध्यवसायो की भिन्नता होती है, तथापि विशिष्ठ क्रियाओ मे भेद या लडाई झगडा नही दिखाई देता और जिनके घातिकर्मों का क्षय हो गया है, उनमे भी मतभेद नही रहता। सभी असंज्ञी जीव,—शास्वादान के समय को छोडकर—सदा मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं और सभी नोसज्ञी नोअसज्ञी जीव, सम्यग्-दृष्टि ही रहते हैं। दृष्टि-भेद सज्ञी जीवो मे ही होता है और मनुष्यो मे यह जितना उग्र होता है, उतना अन्य जीवो मे नही होता। दृष्टि बिगडने से बिगाड और सुधरने से सुधार होता है। जैन दर्शन, धर्म का मूल, दृष्टि सुधार मे मानता है। जिसकी दृष्टि सुधर गई, उसका सुधार अवश्य ही होगा, भले ही विलम्ब से हो।

साधारण मनुष्य दूर की वस्तु को देखने के लिए दुर्बिन का सहारा लेता है, तभी वह देख सकता है, बिना दुर्बिन के नही देख सकता। इसी प्रकार हमारे जैसे जीव, शास्त्र रूपी दुर्विक्षण के द्वारा ही अपने लक्ष को भली प्रकार देख सकते हैं।

दुनिया में देखने की वस्तुएँ अनन्त है। कोई सुन्दर

वस्तुओ को देखते हैं, तो कोई असुन्दर को। कोई बिगाड़ की बाते सोचते हैं, तो कोई सुधार की। आत्म-सुधार की बातें सोचनेवाले तो बहुत थोड़े होते हैं। दुनियवी बाबतो में विद्वान बने हुए लोग, आध्यात्म, आत्मकल्याण, संवर, निर्जरा, मोक्ष और त्याग विरागादि की बाते सुनकर हँसते हैं और ऐसी बातें करने वालो को–'अकर्मण्य, निठल्ले, प्रतिगामी और सड़े दिमाग' कहते हैं। उनके सोचने के विषय ही लोकानुसारी तथा भौतिक होते हैं, फिर वे संवर निर्जरा और मोक्ष की बातो को पसन्द कैसे करेगे ?

हमें दुनिया की लोकानुसारी दृष्टियो के विषय मे यहाँ विचार नही करना है। हमें देखना है कि वे कौनसे विचार हैं जो यथार्थ हो सकते हैं और जिनसे आत्मा पूर्ण सुखी और जन्म मरणादि दुखों से मुक्त हो सकती है। जैन दर्शन उन्ही विचारों को सम्यग् मानता है, जो सत्य हो और हिताहित का विवेक कराते हो। यों तो साधारणतया सभी जानते मानते हैं कि 'भोजन करने से भूख मिटती है, पानी पीने से प्यास बुझती है, आग जलाती है और कामिनी की सगति से काम जागृत होता है। सिक्के और धातु तथा हीरे मोती के खरे खोटे की पहिचान भी लोग कर लेते हैं। इस प्रकार अनेक विषयो में यथार्थ जानकारी रखते हुए भी हम उन्हे सम्यग्-दृष्टि नही कह सकते। जिस ज्ञान से स्व-पर का बोध होता हो, बन्धन और मुक्ति तथा उनके कारणो का ज्ञान होकर हेय ज्ञेय और उपादेय का विवेक होता हो, वही ज्ञान सम्यग् ज्ञान है और उस पर का विश्वास

सम्यग्दर्शन है। इसके अतिरिक्त जितना भी ज्ञान है, वह अज्ञान रूप है। क्योकि वह पूर्णानन्द की प्राप्ति मे उपयोगी नही होता।

सबसे पहले विचारक को अपने आपका ज्ञान करना आवश्यक है। 'मैं कौन हू, मेरा स्वरूप क्या है, यह शरीर क्या है, दुनिया मे दिखाई देनेवाली वस्तुओ का स्वरूप क्या है, क्या मेरे जैसे दूसरे जीव भी हैं, जीवो का स्वरूप कैसा है, यह विभिन्नता क्यो है' —इस प्रकार विचार करके वह जीव और अजीव पदार्थ का स्वरूप समझता है, साथ ही वह विश्व का स्वरूप भी समझता है। जब उसे मालूम होता है कि जीवो की अधमाधम दशा और उत्तमोत्तम दशा भी होती है। सभी जीव, स्वरूप स्वभाव और शक्ति आदि से समान होते हुए भी विभाव परिणति से प्राप्त हुई बध-दशा के कारण कोई छोटा तो कोई वडा, कोई सुखी, तो कोई दु खी, इस प्रकार विविध अवस्थाओ का अनुभव कर रहे है। जिस प्रकार हवा से उडती हुई धूल, कपडो पर लगती है, उसी प्रकार मलीन आत्माओ को कर्मरूपी धूल आकर लगती है और वही राग-द्वेष रूपी चिकनाहट का योग पाकर बंधन रूप हो जाती है। यदि जीव, आस्रव (धूल आने के द्वार) बद कर दे, तो नई धूल आकर नही लगती और सफाई करने पर पुराना मैल छूटकर आत्मा निर्मल हो जाती है। बस यही मुक्तावस्था है। जीव से लेकर शिव (मोक्ष) तक को पहिचानना और जीव से शिव होने के उपायो पर विश्वास करना ही सम्यक्त्व है। यही यथार्थ दृष्टि है।

भले ही कोई व्यक्ति यह नही जानता हो कि 'यह

सिक्का खरा है, या खोटा, भाषा के दोष भी जिसमे रहे हुए हो, जिसका उच्चारण अशुद्ध हो और अनपढ हो। उसे यह भी ज्ञान नही हो कि अमुक वस्तु स्वास्थ्य के लिए हितकर है, या हानिप्रद। इस प्रकार का लौकिक अज्ञान रखता हुआ भी जीव, सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

स्व और पर का ज्ञान, स्व-पर सयोग के कारण और उसका शुभाशुभ परिणाम जानना, मुक्तदशा और उसके उपायों को जानकर विश्वास करना ही सम्यग् दर्शन अथवा यथार्थ-दृष्टि है।

"जिस ज्ञान से संसार हेय और मोक्ष उपादेय माना जाता हो, वही सम्यग् ज्ञान है और उस पर पूर्ण विश्वास हो, वही सम्यग् दृष्टि है"—ऐसा एकान्त नही कहा जा सकता, क्योकि इस प्रकार माननेवाले भी असम्यग् दृष्टि हो सकते हैं। ससार मे ऐसे भी मत हैं, जो ससार को हेय और मोक्ष को उपादेय मानते हैं, फिर भी वे उनका यथार्थ स्वरूप नही जानते। कोई विश्वभर में केवल एक ही आत्मा मानते हैं, कोई आत्मा को कुटस्थ (ठोस) एवं अपरिणामी मानते हैं। किन्ही को मुक्तात्मा का स्वरूप ही ठीक ज्ञात नही है। इस प्रकार गलत धारणा से, मोक्ष की इच्छा रखते हुए भी प्राप्त नही कर सकते।

एक जापानी किसान ने कभी हाथी देखा ही नही था, किंतु उसने सुना अवश्य था कि ससार मे 'हाथी' नामका एक विशालकाय प्राणी होता है और वह सवारी के काम मे आता है। उसने अपने गाव के मुखिया (पटेल) को पूछा। पटेल

भी अनभिज्ञ था, उसने कह दिया कि हाथी बहुत बडा होता है,उसकी टाँगे लम्बी, पीठ पर कुबड और मुह बहुत लम्बा और शरीर से भी ऊँचा होता है। इस प्रकार ऊँट को हाथी बता दिया। किसान ने पटेल के बताये स्वरूप को सत्य मान लिया। एकबार उसके सामने हाथी आ गया, तो भी वह उसे हाथी नही मान सका, किंतु ऊँट को देखकर वह खुशी से उछल पडा और बोला कि–'बस यही हाथी है। मुझे इसे ही देखना था'। इस प्रकार गलत धारणा बन जाने से जब तक वह भूल नही सुधरे, तब तक सही जानकारी प्राप्त नही हो सकती और बिना यथार्थ ज्ञान के वास्तविक वस्तु मिल नही सकती। अज्ञानता के कारण काँच के टुकडे को ही असल हीरा मानकर ठगा जाना असंभव नही है। इस प्रकार मोक्ष की इच्छा होते हुए भी यथार्थ स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती।

यह भी एकान्त रूप से नही कहा जा सकता कि जीवादि तत्त्वो के भेद प्रभेदो को जानने वाला ही सम्यग् दृष्टि हो सकता है, क्योकि ऐसे भी जीव होते हैं, जो 'विषय प्रतिभास ज्ञान' या दीपक-सम्यक्त्व वाले होते हैं। वे जानने और प्रतिपादन करते हुए भी श्रद्धा के अभाव मे असम्यग्दृष्टि रहते है। और ऐसे भी जीव होते है जो विशेष रूप से नही जानते हुए भी "तमेव सच्च णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"–जिनेश्वर भगवान् ने जो कहा वह सत्य ही है,–ऐसी श्रद्धा रखते हुए सम्यग्दृष्टि होते है। ऐसा भी हो सकता है कि जिनेश्वर भगवान् मे पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ, कभी असम्यग् वस्तु को भी सम्यग् मान ले, तो

वह उसके श्रद्धा बल के कारण सम्यग् रूप से ही परिणत होती है (आचारांग श्रु. १ अ. ५ उ ५) जिस प्रकार सूझते का हाथ पकड़कर अन्धा भी इच्छित स्थान को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानवंत के आश्रित रहा हुआ श्रद्धालु अनपढ़ भी कल्याण साध लेता है।

सम्यक्त्व के पोषक तत्त्व

जब यह मान लिया कि "वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहंत भगवान् मेरे परम-तारक देव हैं, निर्ग्रंथ मुनिवर मेरे गुरु हैं और जिन-प्रणीत श्रुत चारित्ररूप धर्म, मेरा धर्म है और यही सम्यक्त्व है, तो इसको पुष्ट, दृढ और उन्नत (क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कराने वाली) बनाने के लिए उन साधनो का अवलंबन लेना ही पडेगा, जिनके अवलंबन से आत्मा उर्ध्वगामी होता रहे। जिसकी दर्शन आराधना साधारण–जघन्य कोटी की हो, वह भी यदि आराधना को चालू रखे और छोडे नही, तो अधिक से अधिक पन्द्रह भव करके सिद्ध होता ही है (भगवती ८–१०) इसलिए दर्शनाराधना सतत चालू रहे और हमसे छूट नही जाय, इसकी पूरी सावधानी रखनी चाहिए और इसके पोषक आलम्बन का सहारा लेते ही रहना चाहिए। वे प्रशस्त आलम्बन ये हैं,–

परमार्थ का गुण कीर्तन करना, तत्त्व चिंतन, तत्त्वज्ञान वर्धक साहित्य का वाचन (स्वाध्याय) करना, पुन: पुन. मनन

करना। आत्मा का परम अर्थ 'मोक्ष' प्राप्ति का है। मोक्ष (सभी प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त) और अखण्ड अनुपम, अविनश्वर आत्मानन्द की प्राप्ति। इस परमार्थ मे प्रीति (सवेग) वढाते रहना, हृदय मे उस परम विशुद्ध दशा के प्रति आदर भाव रहे–बढता रहे। वाणी से परमार्थ की प्रशसा एवं स्तुति हो। मोक्ष, मोक्ष प्राप्त परम विशुद्ध सिद्धात्मा और प्रमाद कषायादि चतुर्गति परिभ्रमणरूप ससार से मुक्त वीतराग जिनेश्वर (भाषक सिद्धो) के प्रति दृढ श्रद्धा पूर्वक कीर्तन करते रहना चाहिए। परमार्थ के दाता जिनेश्वर भगवान् है। अतएव उनकी स्तुति कीर्तन और स्तवना भी परमार्थ संस्तव है। हमे परमार्थ का ज्ञान जिनेश्वर भगवतो से हुआ है। ऐसे परमार्थ के दाता की स्तुति करने से हमारी आत्मा मे भी वैसे गुणो का विकास होता है। यदि हमे परमार्थ सस्तव करना है, तो पहले परमार्थ को समझना होगा। आजकल परमार्थ के नाम से कई वस्तुएँ चल रही है। नाम तो 'परमार्थ स्तुति' का दिया जाता है, परंतु होती है स्वार्थ स्तुति। संसार त्यागी, निर्ग्रंथनाथ भगवान् से हम धन माँगते हैं, पुत्र माँगते हैं, कुटुम्ब, उच्चपद, निरोगता, आदि अनेक वस्तुएँ माँगते हैं। उनकी परम वीतराग अवस्था का ध्यान नही करके बाह्य वैभव, मुन्दरता तथा अतिशयो मे उलझ जाते है और उन्ही का आदर करके अपने को परमार्थ सस्तवी होना मान लेते है। उनकी वाल क्रीड़ा का वर्णन गाकर, हालरिया ललकार कर जिनभक्ति हो जाना मानते हैं। एक कवि वडे मोहक ढग से त्रिशला महा-

रानी के उदयभाव जन्य मनोरथो का वर्णन करते हुए गाता है कि–

"नन्दन नवला मोटा थासो ने परणावशु, बहुवर सरखी जोडी लावशु राजकुमार, सरखा वेहवाई वेहवाण पधरावशुं, बहुवर पोखी लइशु जोइ जोइ ने देदार। हालो हालो हालो हालोरे महारा वीर ने।"

यह तो एक नमूना मात्र है। हमारे समाज मे ऐसे कई हालरिये और बालक्रीडाओ के पद्य प्रचलित है। खूब बने और खूब प्रचलित हुए। मर्यादा टूटी, तो इतनी असीम हो गई कि हमारे त्यागी संतो के द्वारा "राष्ट्र-स्तुति" झडा वदन, युद्ध गीत और वीर रस को जगाकर सघर्ष करने की उत्तेजना देने वाले पद्य भी इस जमाने मे बनकर प्रचारित हो चुके हैं। और इस प्रकार के पद्यो को ओघसंज्ञा से "धर्म स्तवन" ही कहते हैं। वास्तव मे ऐसे स्तवन, परमार्थ स्तुति नही है। यदि परमार्थ स्तुति करना हो, तो पहले शान्त एकान्त स्थान मे बैठिये। फिर मन को एकाग्र करके भगवान् अरिहत का ध्यान करिये। सोचिए कि हम चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य मे बैठे हैं। प्रभु महावीर अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिलापट्ट (जो एक सिहासन जैसा है) पर बिराजमान हैं। उनके शान्त और प्रसन्न श्रीमुख से शाति-सुधा बरस रही है। उस पवित्र चेहरे पर चिता, शोक, कषाय, आतुरता आदि रागद्वेषात्मक भावो की एक हल्की-सी रेखा भी नही है। यद्यपि ऊपरी शाति आन्तरिक शाति की परिचायक होती है, फिर भी आप इसमे मत उलझिये।

आप उनके पवित्र, निर्मल एवं स्वच्छ हृदय के दर्शन कीजिये। कषाय की कालिमा और विषय की दुर्गन्ध, उस पवित्र हृदय (-विचारो के उद्गम स्थान) मे है ही नही। उस महान् आत्मा के समस्त प्रदेशो से घातिकर्मों के थर (गाढ बन्धन समूह) सर्वथा नष्ट हो चुके। कितनी भव्य, कितनी पवित्र और कितनी श्रेष्ठ आत्मा है वह। यह निर्मलता मुझ मे भी आवे, मेरे आत्म प्रदेश भी वैसे ही स्वच्छ और विशुद्ध बन जायँ। प्रभो! मैं धन-माल नही माँगता, पुत्र परिवार नही चाहता और उच्च पद अथवा देवेन्द्र की ऋद्धि भी आपसे नही माँगता। मैं एक सामान्य वस्तु माँगता हूँ। हे नाथ!

"निज दास जान लीजे, इतनी मया करीजे,
सम्यक्त्व दान दीजे, माधव विनय सुनाई।"

मुझे सम्यक्त्व की-अप्रतिपाति सम्यक्त्व की ही आवश्यकता है। बस यही माँगता हू प्रभो! आप तो सब को बिना किसी भेद भाव और पक्षपात के सम्यक्त्व ही नही-मुक्ति भी प्रदान करते हैं। आपने गौतमादि हजारो साधु-साध्वियो को तार दिया, आनन्दादि लाखो श्रावक-श्राविकाओ को सम्यक्त्व और विरति प्रदान की। मैं पामर तो केवल सम्यक्त्व ही माँगता हूँ। मैं जानता हू कि आपने तो ससार के समस्त जीवो के हित के लिए प्रवचन रूपी महादान किया। आपका वह महादान आज भी-आंशिक रूप मे भी-भव्यात्माओ के लिए उपकारी है। अब तो मेरा ही कर्त्तव्य है कि मैं उसे अपनाऊँ। माँगना मेरा धर्म नही। माँगने से सम्यक्त्व मिलती

नही। मांगना तो कमजोरो का काम है। मैं भी तो उन कमजोरो मे से ही हूँ और अभी प्राथमिक कक्षा मे ही भटक रहा हूं। यदि इस समय इस साधन को नही अपनाउँ, तो आगे नही बढ सकूंगा। प्रभो! सम्यक्त्व रत्न मुझ मे मौजूद है, यह आप ही ने फरमाया था, किंतु वह दर्शनमोहनीय के भारी पर्वत के नीचे दबा हुआ है। यह इतना दबा हुआ है कि बिना आपके सहारे के निकल नही सकता। निसर्गरुचि (स्वभाव) से अपने आप मिथ्यात्व का पर्वत हटाकर सम्यक्त्व प्राप्त कर लू, इतनी योग्यता तो मुझ मे नही है। आपका सहारा लेकर ही मैं कुछ पा सकूगा।

परमार्थसंस्तवी, वीतरागता का उपासक होता है, सरागता का नही। वह त्याग का पुजारी होता है, भोगका नही। प्रभु की उपासना रागद्वेष का नाशकर वीतरागता प्राप्त करने के लिए करता है, ससार से पार होकर मुक्ति लाभ करने के लिए करता है, तभी वह परमार्थ-सस्तव होगा। वीतराग की स्तुति भी यदि रागद्वेष बढाने और वासना की पूर्ति के लिए की जाती है, तो वह जिनेश्वर की स्तुति होते हुए भी "स्वार्थ-संस्तव" होगा।

परमार्थ-सस्तव करने वाला सम्यक्त्व का प्रशसक होगा, मिथ्यात्व का नही। विरति का पक्षकार होगा, अविरति का नही। त्याग का पूजक होगा, भोग का नही। उसके वचनो से, उसकी कलम से, उसके हृदय से, ऐसी कोई बात नही निकलेगी कि जिससे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, भोग, आरम्भ, परिग्रह

और सावद्यानुष्ठानादि को आत्मा के लिए श्रेयस्कर बताया जा सके।

हमारे लिए परमार्थ मे सर्व प्रथम स्थान अरिहंत भगवान् का है, क्योंकि वे परमार्थ के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। वे परमार्थ के जनक सर्जक एव प्रकाशक हैं। उन्ही से धर्म एवं तत्त्व का प्रकाश हुआ है। परमार्थ साधना द्वारा वे स्वयं परमार्थमय बन गये हैं। घातीकर्म रहित उस पवित्र आत्मा रूपी सुमेरु पर्वत से, वीतराग वाणी रूप महा-गंगा प्रकट हुई, जो गणधर रूपी कुड मे से होकर इस अवनितल पर बह रही है और भव्य जीवो के पाप रूपी मैल को धो रही है। उस पवित्र वाणी = परमपद और उसकी प्राप्ति का मार्ग दिखाने वाली वीतराग वाणी (तत्त्वज्ञान) का परिचय करना,पठन, श्रवण, मनन और पृच्छा द्वारा हृदयगम करते रहना तथा परमार्थ के ज्ञाता–ज्ञानियो का सत्सग करते रहना है। इससे सम्यक्त्व की प्राप्ति, स्थिति और वृद्धि होती है। आत्मा के निर्मल स्वरूप (सिद्धावस्था) का ज्ञान और उसकी प्राप्ति के साधन–संवर, निर्जरा मे रुचि बढती है। परमार्थ का सतत परिचय रखने वाले के लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता जाता है। उसके पतन की संभावना प्राय नही रहती। अतएव जिनागम और जिनागम के अनुकूल शास्त्रो का स्वाध्याय तथा परमार्थ ज्ञाता का सतत परिचय रखते ही रहना चाहिए।

सुदृष्ट परमार्थ सेवन

जिनकी दृष्टि शुद्ध और यथार्थ है, जो परमार्थ के ज्ञाता

और दृढ श्रद्धानी है और जो परमार्थ प्राप्ति मे सतत प्रयत्न शील हैं, ऐसे आचार्यादि गुणीजनो की सेवा करना।

पतितों और कुदर्शनियों से बचना

उपरोक्त दो साधन आत्मा को उन्नत बनाने वाले हैं। इनसे सम्बन्ध रखने वाले का उत्थान ही होता है। यदि मोहनीय का गाढतम उदय हो, तो वह बात अलग है। साधारणतया परमार्थ संस्तव और सेवन करते रहने वाले के लिए पतन के बाह्य निमित्त कारणभूत नही होते। जिस प्रकार आरोग्य चाहने वाले को पौष्टिक खुराक लेते रहने पर भी कुपथ्य से बचते रहना आवश्यक है, उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी आत्मा की आरोग्यता बनाये रखने के लिए, नाशक निमित्तो (कुपथ्यो) से दूर ही रहना चाहिए। इसीलिए प्राणी मात्र के परम हितैषी महर्षियो ने दो प्रकार के पथ्य के बाद दो प्रकार के कुपथ्य से बचने का भी विधान किया है। जिस प्रकार भयानक अटवी मे जाते समय सुरक्षा के लिए सुभटो को साथ रखा जाता है और लुटेरो की सगति का त्याग किया जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व-रत्न की सुरक्षा के लिए मिथ्यात्व रूपी दो प्रकार के लुटेरो से बचते रहने की सावधानी सतत रखनी चाहिए। इनमे से पहला तो है दर्शन-भ्रष्ट (जैनत्व से च्युत होकर अजैन विचारधारा को अपना लेने वाला) और दूसरा है कुदर्शनी (मिथ्यादर्शनी)। इनके परि-चय एवं संगति से चेपी रोग की तरह मिथ्यात्व रूपी भाव-रोग

लगकर सम्यक्त्व रूपी आरोग्यता के नष्ट होजाने का भय रहता है।

कुदर्शनी से बचना जितना सरल होता है, उतना दर्शन-भ्रष्ट से बचना सरल नही होता। कुदर्शनी तो प्रायः पृथक् ही होते हैं। उनकी चर्या और बाह्य परिधानादि भिन्न प्रकार के होते हैं, किंतु दर्शन-भ्रष्ट तो सम्यग्दृष्टि तथा साधु व श्रावक के लिवास मे भी रहते हैं और इस रूप मे रहते हुए वे सरलता से सम्यक्त्व रूपी रत्न को लूटकर बदले मे मिथ्यात्व रूपी पत्थर गले मे बाँध देते हैं। साधारण जनता तत्त्व को नही जानती। वह वेशादि के कारण भुलावे मे आकर उनके वाक्जाल में फँस जाती है और सम्यक्त्व त्याग कर दर्शन-भ्रष्ट होजाती है। इस प्रकार कुदर्शनी के बनिस्बत दर्शन-भ्रष्ट अति भयंकर होता है। इसीलिए कुदर्शनी से पहले दर्शन-भ्रष्ट को बता कर उसकी अति भयकरता का निर्देश किया है।

इस प्रकार बाधक निमित्तो से दूर रहता हुआ और साधक तत्त्वो के संसर्ग मे रहता हुआ भव्य आत्मा, निरन्तर परमार्थ को आत्मा मे जगाता रहता है और उन्नत होते होते परमार्थमय बन जाता है।

परमार्थ की छाया में

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे पर (पुद्गल) का संबंध और मिथ्यात्व के दलिको का अस्तित्व रहता ही है। वे दलिक उदय मे नही आकर सत्ता मे पड़े रहते हैं और उदय प्राप्त प्रदेशोदय

होकर क्षय हो जाते हैं। यदि परमार्थ परिचय और परमार्थ सेवन होता रहे, तथा भ्रष्टदर्शनी से बचते रहे, तो यही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दृढीभूत होते होते क्षायिक-कल्प (क्षायिक तुल्य) हो जाती है और भवान्तर मे क्षायिक सम्यक्त्व का कारण बन जाती है। क्षायिक सम्यक्त्वियो के लिए कोई खतरा नही है। चाहे जितना जबरदस्त निमित्त हो, लाखो, करोडो प्रकाण्ड कुदर्शनी अथवा भ्रष्टदर्शनी भी उस भव्यात्मा के सम्यक्त्व रत्न को नही छीन सकते। उनके मिथ्यात्व का जादु उस पर किंचित भी असर नही कर सकता। क्योकि उस भव्यात्मा मे मिथ्यात्व के पुद्गल हैं ही नही, तो बाहरी मिथ्यात्व उन पर कैसे असर कर सकेगा? उग्र रूप मे भयंकर छोत रोग आसपास फैला हुआ हो, हजारो लाखो मनुष्य रोग के पंजे मे बुरी तरह फँसे हो, ऐसे विषाक्त वातावरण मे भी कई मनुष्य पूर्णत निरोग और सुरक्षित रहते हैं। उन्हे रोग लगता ही नही। इसका खास कारण यही कि उन मनुष्यो मे रोग को पकड़ने, रोग से प्रभावित होने वाले पुद्गल है ही नही, तब रोग असर करे तो कैसे? वहा रोग का सहारक प्रहार भी व्यर्थ हो जाता है। वीतरागी को काम की उत्पत्ति नही होती, भले ही हजारो इद्रानियाँ मिलकर मोहित करने का प्रयत्न करे। सोने को कीट नही लगता, भले ही उसे कीचड मे वर्षों तक पड़ा रहने दिया जाय, क्योकि इन सब मे वैसे कारण ही नही है। इसी प्रकार जिस भव्यात्मा के आत्म प्रदेशो मे से मिथ्यात्व के दलिक सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, उनके लिए खतरे का कोई स्थान नही है। जिस प्रकार वासुदेव

और चक्रवर्ती जैसे अद्वितीय महान् योद्धाओ को लाखो शत्रु भी नही डिगा सकते, उसी प्रकार क्षायिक सम्यक्त्वी के लिए विश्वभर मे कोई भी खतरे का स्थान नही है। जो कुछ खतरे हैं, वे क्षयोपशम सम्यक्त्व के लिए ही हैं। जघन्य और मध्यम प्रकार की स्थिति मे उस पर खतरे के कारण असर कर सकते है और वह उनकी झपट मे आकर, अपने अमूल्य रत्न को गँवाकर, बदले मे मिथ्यात्व रूपी पत्थर अपना लेता है। इसीलिए परम हितैषी भगवतो ने खतरो से सावधान और रक्षको की छाया मे रहने का निर्देश किया है।

सम्यग्दृष्टि के कारण

सम्यग्दृष्टि का मूल कारण तो जीव की अपनी सम्यग्-परिणति है। भव्य होना, शुक्ल-पक्षी होना और महामोहनीय की ७० कोड़ाकोडी सागरोपम की स्थिति मे से ६९ कोडाकोडी सागरोपम से कुछ विशेष स्थिति को क्षय करके मिथ्यात्व की गांठ को तोड देना है। अर्थात् अनन्तानुबन्धी चोक और दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतियो का क्षयोपशमादि आन्तरिक कारण से सम्यग् दृष्टि प्राप्त होती है। बाह्य कारणो मे जिनोपासक के यहा उत्पन्न होना, या जिनोपासक से सम्बन्ध होना—मैत्री होना, सत्सग होना, जिनोपदेश सुनना, निर्ग्रंथ प्रवचन पर मनन करना आदि है। इस प्रकार उपादान और निमित्त की अनुकूलता से सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। ये है सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने के कारण।

यो तो अभव्य तथा दुर्भव्य भी अकाम-निर्जरा द्वारा

'यथाप्रवृत्तिकरण' (सम्यग्दृष्टि जैसी प्रवृत्ति) तक आ जाता है, किंतु वह मिथ्यात्व की गाठ को नही तोड सकता और मिथ्यात्व मे ही पड़ा रहता है। कई जीव ऐसे दुर्भागी होते हैं, जो जैन कुल मे जन्मादि उत्तम कारणो की अनुकूलता पाकर भी मिथ्यादृष्टि रहते हैं, और दूसरो को मिथ्यात्वी बनने में निमित्त बनते हैं। वे ससार के विविध वाद, मध्यम मार्ग, लौकिक सुधार अथवा जड विज्ञान की चकाचौध पर मोहित होकर दुनियादारी मे ही उलझ जाते हैं। भौतिक उपकार को ही मोक्ष मार्ग मान लेते हैं और मोक्ष के वास्तविक कारणो (साधनो) पर अविश्वासी होकर असम्यग्दृष्टि बन जाते हैं।

सम्यक्त्व के बाधक कारणो मे आन्तरिक कारण दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय और बाह्य कारण मिथ्यादृष्टियो और उनके साहित्यादि का परिचयादि है। ऐसे बाधक कारण वर्त्त-मान समय मे अधिक व्यापक हो रहे हैं। इनसे बचने के लिए सतत सावधानी रखनी चाहिए, जिससे सम्यक्त्व सुरक्षित रहे।

मोक्ष की मान्यता

सभी तत्त्वो की यथार्थ मान्यता ही सम्यग्दर्शन है। इसमे न्यूनाधिकता को किञ्चित् भी स्थान नही है। यदि जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर और निर्जरा, इन आठ तत्त्वो पर विश्वास कर लिया और एक मात्र मोक्ष तत्त्व पर विश्वास नही किया, तो वह सम्यग्दृष्टि की कोटि मे नही आ सकता। देव, गुरु और धर्म पर अनुराग रखते हुए और

श्रावक तथा साधु के व्रतो का निर्दोष रीति से पालन करते हुए भी यदि एक मोक्ष तत्त्व पर यथार्थ श्रद्धा नही हुई, तो वह असम्यग् दृष्टि ही माना जायगा। कषायो को मंद कर दिया जाय और शुक्ल लेश्या की परिणति अपना कर उच्चकोटि का जीवन बिताया जाय, पर सम्यग् दृष्टि के बिना यह सब प्रथम गुणस्थान में ही गिना जायगा।

अनेकान्त

शंका–आठ तत्त्वो पर यथार्थ श्रद्धा करते हुए और एक मात्र मोक्ष तत्त्व पर अश्रद्धा या थोड़ी विपरीत श्रद्धा होने मात्र से किसी को मिथ्यादृष्टि मान लेना, अनेकान्तवाद का उल्लंघन नही है ?

समाधान–नही, क्योकि अनेकान्तवाद केवल मोक्ष को ही नही मानता, वह स्वर्ग गति को भी मानता है, जिन्हे मोक्ष नही मानकर स्वर्गीय भौतिक सुखो को ही मानना है, वे तदनुकूल आचरण से स्वर्गीय सुख भी प्राप्त कर सकते हैं। किंतु जिसे मोक्ष प्राप्त करना है, उसे इतर लक्षो को छोडकर केवल एक ही लक्ष पर कायम रहना पडेगा, तभी वह मोक्ष पा सकेगा। व्यवहार मे भी सफल मनोरथ उसी के होते है, जो कार्य के अनुरूप एक लक्ष को अपनाकर आगे बढे। बबई जाने वाले को दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास आदि स्थानो से लक्ष हटाकर एक बंबई की ओर ही अग्रसर होना पडेगा, तभी वह यथास्थान पहुँच सकेगा। अनेक दिशाओ को छोडकर ठीक

एक दिशा की ओर जाने से ही इच्छित स्थान पर पहुँचा जाता है, उसी प्रकार दूसरी गतियो को छोड़कर, भौतिक लक्ष को त्याकर, मोक्ष का लक्ष अपनाने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यहा सम्यग् एकान्त की ही आवश्यकता है। इसके बिना मुक्ति नही होती। सम्यग् एकान्ती ही "एगतसोक्खं समुवेइ मोक्खं" (उतरा० ३२) प्राप्त कर सकता है। आगमो मे भी सम्यग् एकान्त का ग्रहण है। जैसे कि–"आया एगंतदंडे यावि भवई, आया एगंत बाले यावि भवई, आया एगंत सुत्तेयावि भवई"। (सूयग० २-४) सम्यग् एकान्त से अनेकान्त का विरोध नही, किन्तु लक्ष मे दृढता होकर प्राप्ति की ओर पुरुषार्थ होता है। यदि सम्यग् एकान्त को त्यागकर लक्ष और कार्य में विवेक हीनता अपनाई जाय, तो हानि उठानी पड़ती है। जैसे सेर भर दूध मे तोले भर पडे हुए विष को अनेकान्त दृष्टि से पीने पर दुखी होना पडता है।

अनेकान्तवाद, जिस अपेक्षा से जिसकी अस्ति मानता है, उसी अपेक्षा से उसकी नास्ति नही मानता। लक्ष-हीन होकर घानी के बैल की तरह चक्कर लगाये करना, सम्यग्दृष्टि की सीमा से बाहर है। जिसका एक लक्ष नही, उसका बेडा संसार समुद्र मे भटकता ही रहता है। अतएव लक्ष का स्थिर होना नितान्त आवश्यक है और सम्यग् दृष्टि का अंतिम लक्ष मोक्ष का होता ही है।

मोक्ष के साधन

सम्यग्दृष्टि का लक्ष मोक्ष का होता है। वह मोक्ष

को मानता है, तो मोक्ष के साधनो को भी मानेगा ही। बिना साधना के सिद्धि कैसे हो सकती है ? मोक्ष के साधन, बन्ध के साधनो से उल्टे होते हैं। जिन साधनो से बन्धन की प्राप्ति होती है, उनके विपरीत साधनो से बन्धन कटते हैं। इन्द्रियो के शब्दादि विषय बध के कारण हैं, तो विषयो की इच्छा का निरोध, बन्धनो को काटने का साधन है। इसे'निर्जरा तत्त्व'कहते है। यह निर्जरा तत्त्व ऐसा है जो मोक्ष के बाधक कारणो को नष्ट करता है। एक ओर निर्जरा होती जाय और दूसरी ओर बध भी होते जायँ, तो मुक्ति नही हो सकती। इसलिए निर्जरा के पूर्व बन्ध के कारणो को रोकना पडेगा। बन्धन के कारणो को रोकने का उपाय "संवर" कहलाता है। मिथ्यात्व, अविरति, आदि को हटाकर सम्यक्त्व, विरति आदि सवर के द्वारा नूतन बन्ध को रोकने से बन्धन के नये कारण पैदा नही होते। इस प्रकार सवर और निर्जरा (सकाम निर्जरा) ये दोनो तत्त्व, मोक्ष तत्त्व के साधन हैं। जिस प्रकार कुशल वैद्य, रोगी को कुपथ्य से बचाकर, रोग के कारणो को सबसे पहले रोकता है और फिर पुराने रोग को दूर करने की दवा देता है, उसी प्रकार संवर तत्त्व, बध के नूतन कारणो को रोकता है और निर्जरा तत्त्व, पुराने बंधन काटकर मुक्ति प्रदान करता है।

तत्त्वज्ञान की वैज्ञानिकता

यदि हम विचार पूर्वक देखें, तो जैन धर्म का तत्त्व-निरूपण बिलकुल वैज्ञानिक दिखाई देगा। जैसे–प्रथम जीव

तत्त्व है, इस जीव तत्त्व से सम्बन्धित ही दूसरे आठ तत्त्व हैं। जीव तत्त्व मे एकेन्द्री से लगाकर अनिन्द्रिय और नारक से लगाकर इन्द्र अहमिंद्र और सिद्ध तक के जीव है। जीवो की शुभाशुभ परिणति के कारण ही कर्माश्रव होता है और पुण्य पापरूप फल देने वाला बन्ध होता है। इसी से तो जीव, नरक और निगोद जैसे दुःख और इन्द्र अहमिन्द्र जैसे सुख पाता हुआ जन्म मरण करता रहता है। चारो गति मे भटकने वाले जीव, अपनी शुभाशुभ परिणति से कर्म पुद्गल को अपनाकर शुभाशुभ बधन से अपने को बाँध लेते हैं और उसके परिणाम स्वरूप विविध दशा को प्राप्त होकर चतुर्गति रूप संसार मे भटकते रहते हैं। यह जीव, लोक के सभी आकाश प्रदेशो मे जन्म-मरण कर चुका। अनन्तानन्त कर्म वर्गणाओ को बाधकर छोड चुका और पुन २ निरन्तर बाध छोड करता रहा। औदारिक वैक्रेय, तेजस और कार्मण शरीर अनन्त बार पा लिया। कोई २ जीव तो आहाराक शरीर भी पा चुके। इस प्रकार छ तत्त्वो मे जीव, अनादिकाल से बना रहा। इन छ तत्त्वो से आगे बढ कर सातवे आठवे तत्त्व मे जो प्रवेश करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी और सम्यग्चारित्री होते हैं। सम्यग्दृष्टि यह समझ लेता है कि जीव मैं भी हूं और मुक्तात्मा सिद्ध भगवान् भी जीव हैं। मेरे और उनके बीच इतनी महान् विषमता होने का कारण मेरा अजीव के साथ शुभाशुभ सम्बन्ध है। इस विषमता को मिटाकर उनके समान बनने के लिए मुझे सम्बन्ध के कारणो को रोकने रूप संवर तथा पुराने बन्धनो को काटने

रूप निर्जरा का आश्रय लेना ही पडेगा, तभी मैं मुक्त होकर अंतिम तत्त्व को प्राप्त कर सकूगा–सिद्ध हो सकूंगा। ऐसा दृढ विश्वास ही 'सम्यग्दर्शन' है। इस प्रकार की विचारणा और श्रद्धा रखने वाला सम्यग्दृष्टि है।

हम इस विषय को संक्षेप मे इस प्रकार भी समझ सकते हैं,–

सम्यग्दृष्टि वही–जो मोक्ष को यथार्थ रूप में माने। जो मोक्ष को मानेगा, वह मोक्ष के साधनो को भी मानेगा और बंध के कारणो को भी माने ही गा। यदि बंध नही माने, तो मोक्ष किसका? और साधना की जरूरत ही क्या? इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व की श्रद्धा होनी ही चाहिए।

आस्तिकता

दुनिया मे जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, वे पुण्य, पाप, स्वर्ग, नर्क और पुनर्जन्म को मानते ही हैं। कोई मोक्ष को भी मानते हैं। इसीलिए वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। इस आस्तिकता मे प्रत्येक का तत्त्व निरूपण भिन्न भिन्न प्रकार का है। सब अपने अपने ढंग से प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन उसी को पूर्ण आस्तिक और क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि) मानता है–जो नव तत्त्वो मे यथार्थ श्रद्धा रखता हो।

एक आचार्य ने कहा है कि कितने ही मिथ्यादृष्टि ऐसे होते है, जिनकी आठ तत्त्वो मे तो श्रद्धा है, किन्तु मोक्ष तत्त्व मे श्रद्धा नही है। वह साधु के योग्य उच्च चारित्र पालता

है और उसके फल स्वरूप वह ग्रैवेयक मे अहमिन्द्र भी बन जाता है, फिर भी मिथ्यादृष्टि ही रहता है। क्योकि उसका विश्वास मोक्ष मे है ही नही। इसलिए उसकी साधना भी मुक्ति प्रदायक नही बनती।

"मोक्ष है भी या नही ? यदि हो भी, तो उसमे धरा ही क्या है ? न खाना न पीना, न ऐश न आराम, न सेवक न सेव्य, फिर रखा ही क्या है–ऐसी मुक्ति में, जहां बुतकी तरह एक स्थान पर ही चिपके रहते हैं। ऐसी मुक्ति यदि हो, तो भी किस काम की ?" इस प्रकार आत्मिक पूर्ण आनंद के प्रति अविश्वासी बनकर मिथ्यादृष्टि रहते हैं। जिस उग्र चारित्र के बल से श्रद्धाशील श्रमण, मुक्ति लाभ करते हैं, उसी प्रकार के उग्र चारित्र को मात्र कुश्रद्धा के चलते मिथ्यादृष्टि जीव, नाशवान् एव अनित्य पौद्गलिक सुखो मे समाप्त कर जन्म मरण के चक्कर मे उलझा ही रहता है। मोक्ष वही पाता है जो उसमें यथार्थ श्रद्धा रखता है।

सम्यग्दृष्टि कौन

शका–सम्यगदृष्टि तो वह होता है जिस मे क्रोध, मान, माया और लोभ नही हो, जिसकी वासना मर चुकी हो, जो शत्रु और मित्र पर समान भाव रखता हो। आप तो श्रद्धा गुण में ही सम्यग् दृष्टि बता रहे हैं, यह किस प्रकार सत्य हो सकता है ?

समाधान–जिनकी कषायें और विषय वासना मर चुकी

है और जो वीतराग बन चुके है, वे तो सम्यग्दृष्टि हैं ही, किंतु उन्ही को सम्यग्दृष्टि मानकर दूसरो मे सम्यक्त्व का अभाव मानना मिथ्या है। क्योकि सम्यक्त्व चौथे गुण स्थान से प्रारभ होती है, जहा विषय, कषायादि का अस्तित्व है। आप जो बता रहे है, वह स्थिति तो दसवे से आगे के गुणस्थानो मे होती है।

शंका–यदि यो माना जाय कि आत्मिक दृष्टि वाला सम्यग् दृष्टि और पौद्गलिक दृष्टि वाला मिथ्यादृष्टि, तब तो ठीक है न ?

समाधान–इसमे भी एकान्त बात नही है। चारित्र मोहनीय के उदय से जीव, भोगरुचि और परिग्रह रुचि वाला होकर भी सम्यग्दृष्टि रह सकता है। चौथे गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय होते हुए भी सम्यग्दृष्टि कायम रहती है।

शंका–तीव्र कषाय वाले प्राणी तो मिथ्यादृष्टि ही होते होगे ?

समाधान–ऐसा एकान्त कथन भी उचित नही है, क्योकि महाआरम्भ महापरिग्रह और तीव्र कषाय के सद्भाव मे भी सम्यग्दृष्टि हो सकती है, ऐसा दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के मूल पाठ मे लिखा है। सम्यग्दृष्टि साथ लेकर छठी नरक तक जा सकते हैं और सातवी नरक मे तीव्र कृष्ण लेश्यावाले नारक मे भी सम्यक्त्व पाई जाती है। दूसरी ओर मन्द कषाय वालो मे भी मिथ्यादृष्टि हो सकती है। पांचवे स्वर्ग के किल्विषि देव,

पतली कषायो वाले और शुक्ल लेश्या वाले होते हैं, फिर भी वे मिथ्यादृष्टि हैं। उनसे भी बढकर ऊपर की ग्रैवेयक के देव, अधिक मन्द कषाय और विशेष शुद्ध शुक्ल लेश्या वाले होते हैं, किंतु उनमे मिथ्या दृष्टि भी होते हैं। अतएव कषायो की तीव्रता मदता पर भी सम्यग्दृष्टि का आधार नही है। कृष्ण लेश्या वाले जीवो मे भी सम्यग्दृष्टि होती है और शुक्ल लेश्या वाले जीवो मे भी मिथ्यादृष्टि होती है।

शंका—फिर अनन्तानुवन्धी कषाय का अर्थ क्या है ?

समाधान—जो कषाय सम्यक्त्व गुण का घात करे अथवा सम्यग्दर्शन से वचित रखे, वह अनन्तानुबंधी कषाय होती है। वह मंद भी हो सकती है और तीव्र भी।

परीक्षक या अन्धविश्वासी ?

शंका—परीक्षा मे जो खरा उतरे उसे मानना सम्यग्दृष्टि है, या अन्धविश्वास से ही दूसरो की बात मान लेना सम्यग्-दृष्टि हैं ?

समाधान—परीक्षा करना बुरी बात नही, किन्तु परीक्षा करने की योग्यता भी होनी चाहिए। संसार के सभी मनुष्य उदय-भाव की विचित्रता के कारण भिन्न २ दृष्टिकोण रखते हैं। एक ही वस्तु के विषय मे कई प्रकार के मतभेद देखे जाते हैं। खान-पान मे, रहन-सहन मे, बोल-चाल मे और अन्य व्यवसाय मे रुचि भिन्नता प्रत्यक्ष देखी जाती है। प्रयेक की रुचि और विश्वास के अनुसार सम्यग्दर्शन का स्वरूप नही हो

सकता। सम्यक्त्व का कुछ एक रूप तो होना ही चाहिये। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र का जैसा भी हो, एक ही प्रकार का आकार प्रकार है, किंतु दुनिया उन्हे विविध रूपो मे मानती है। एक हीरे का मूल्य अनेक जौहरी, दृष्टि-भेद के कारण न्यूनाधिक आकते हैं, जब कि वह किसी निश्चित मूल्य का ही है। इसी प्रकार परीक्षको की विभिन्न मतियो के अनुसार सम्यक्त्व का रूप नही बन सकता। वह जैसी है वैसी ही रहने की। तर्क-जाल मे फँसाकर मनुष्य, किसी को धोका दे सकता है और खुद भी धोका खा सकता है, परन्तु वास्तविकता को तो तर्क-जाल भी नही बदल सकती।

विश्वास की व्यापकता

अन्ध विश्वास मे सारा जगत् ही पडा हुआ है। इसमे मुक्त कौन रहा ? सूझते पर विश्वास करके प्रगति करनेवाला अन्धा, इच्छित स्थान पर पहुँचता भी है और भटक भी जाता है। जिस पर विश्वास करे, वह ईमानदार प्रामाणिक और योग्य है, तो अन्धे को पार लगा देता है और बेईमान तथा लफंगा हो, तो लूटकर भूलभुलैया मे फँसा देता है।

रोगी, वैद्य से अपना उपचार करवाता है, तो उस पर विश्वास--अंध विश्वास करता ही है। दवा भी विश्वास रखकर ही लेता है। जलयान, वायुयान और रेलगाडी मे इसी विश्वास से बैठता है कि यह हमें सकुशल इच्छित स्थान पर पहुँचा देगी। भोजन करता और दूध पीता है, तो रसोइये पर विश्वास कर के

ही पीता है कि 'इसमे कोई गरबडी नही है', फिर भले ही वह विषमिश्रित निकल जाय। चाँदी, सोना, हीरे, मोती आदि की परीक्षा नही जाननेवाले करोडो लोग, किसी दूसरे के विश्वास पर ही उन्हे खरा मानकर लेते है। विष किस प्रकार मारक होता है, इसकी परीक्षा किये बिना ही उसे मारक मानकर लोग दूर ही रहते हैं। इस प्रकार हजारो काम अन्ध-विश्वास से ही चलते हैं, तब सम्यक्त्व के स्वरूप के विषय मे, वीतराग सर्वज्ञ भगवान् के बताये स्वरूप पर विश्वास नही करके स्वत की बुद्धि पर ही भरोसा करना कैसे ठीक होगा? हम अल्पज्ञ इस अरूपी आत्मिक तत्त्व को किस प्रकार यथार्थ रूप मे प्राप्त कर सकते हैं? वास्तव मे अपनी मति को ही पूर्ण समर्थ मानकर सर्वज्ञो के सिद्धात की उपेक्षा करना, अपने को धोके मे डालना है।

यदि परीक्षा करनी है, तो सम्यग् रीति से करनी चाहिए। यदि सुज्ञ परीक्षक, ससार के भिन्न भिन्न मतो और उनके शास्त्रो को देखे और उनके आराध्य की दशा पर विचार करे, तो उसे अपना आराध्य चुनने मे सरलता हो सकती है।

आराध्य की परीक्षा

वही आराध्य सर्वोत्तम है जो राग-द्वेष से रहित हो। भयंकर कष्ट देने वाले, महान् अत्याचारी और अनाचारी पर भी जो क्रुद्ध नही होता है, जो उपासको पर प्रसन्न होकर उनका भला करने की प्रतिज्ञा नही करता, वही वीतराग है। ऐसे वीतरागी की सम्यग् आराधना ही जीव को वीतरागी

बनाकर सुखी कर सकेगी। दुनिया मे दिखाई देनेवाले अन्य उपास्य, राग द्वेष और कनक-कामिनी के पाश मे बधे हुए हैं। कई अज्ञान के अन्धकार मे भटक रहे हैं। वीतरागता के दर्शन सिवाय जिनेश्वरो के अन्य कही नही हो सकेगे। जिनेश्वर से भिन्न ऐसा एक भी देव नही—जो जिनेश्वरो की वीतरागता की बराबरी कर सके। सर्वज्ञता के प्रमाण आज भी जिनेश्वरो के प्ररूपित आगमो मे मिल सकते है। जिस बात को ससार का कोई भी व्यक्ति, देव अथवा विशिष्ठ पुरुष नही बता सका, उन बातो को बतानेवाले जिनेश्वरदेव ही थे। जैसे कि—

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, परमाणु, पुद्गल के वर्णादि, भाषा का शीघ्र ही लोकव्यापी हो जाना, परमाणु पुद्गल का एक समय मे ही असंख्यात योजन लाघकर एक लोकान्त से दूसरे लोकान्त मे पहुँच जाना, पृथ्वी, अप, तेजसादि स्थावरो मे जीव होना, जीवो के भिन्न २ भेद और कर्मों के भेदानुभेद, ये सब विशेषताएँ जैनधर्म की ही है। निष्पाप और निर्दोष जीवन बिताकर आत्म कल्याण साधने की विधि, जैसी निर्ग्रन्थ प्रवचन मे है, वैसी अन्यत्र कहाँ है? इन बातो पर विचार करनेवाला यदि कुतर्क जाल से वचित रहे, तो इसके मूल उपदेशक को सर्वज्ञ मानेगा ही।

हमारे देव वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, इसीसे तो उन्होने ऐसे तत्त्वो और रहस्यो को प्रकट किया कि जो साधारण मनुष्यो से सदा अदृश्य रहे और जिसे जगत् का कोई भी 'देव' संज्ञक व्यक्ति नही बता सका। उनका

बताया हुआ निर्ग्रंथ जीवन भी कैसा अनुपम ? कितना पवित्र कि जिसकी बराबरी दुनिया का कोई भी शास्त्र नही कर सकता। पेट पूर्ति के लिए आहारादि लेने की विधि भी कितनी निर्दोष ? देनेवाला उच्च भाव पूर्वक देते हुए और सामग्री निर्दोष होते हुए भी यदि दाता, अचानक, अनजानपने से, किसी सचित्त वस्तु को छु ले, तो वह उनके लिए अग्राह्य हो जाती है। यदि वह अग्नि से सम्बन्धित हो, तो नही ली जाती। दाता ने पात्र साफ करने के लिए यदि फूंक लगा दी, या उसे सचित्त पानी से धो डाला, तो वह अग्राह्य। प्रसवकाल के निकट गर्भवती अथवा बच्चे को दूध पिलाती हुई से भी नही लिया जाता। इन सब नियमो के पीछे मुख्यदृष्टि अहिंसा की रही है। ऐसी कौनसी परम्परा है कि जिसमे स्थावर जीवो की रक्षा का ध्यान दिया हो, उनकी हिंसा नही होजाय, उन्हे छु कर कष्ट नही पहुँचाया जाय, इसकी सतत् सावधानी का उपदेश दिया हो। निर्ग्रंथो को भूखा प्यासा रह जाना मंजूर, परंतु स्थावर जीवो को स्पर्शते हुए दिया जाने वाला निर्दोष भोजन लेना मंजूर नही। अहिंसा के पालन में इतनी जागरुकता अन्यत्र कहाँ है ?

त्याग, विरति, तप, संयम, अहिंसादि और विषय कषाय –राग-द्वेष को नष्ट करके वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर शाश्वत सुख को प्राप्त करने वाले उत्तम नियम भी इस निर्ग्रंथ प्रवचन मे है, वैसे नियम अन्यत्र नही है।

इस प्रकार यदि हम दूसरे मतो से जैनमत की सम्यग् परीक्षा करे, तो वह सर्वोपरि ही सिद्ध होगा।

बिना त्याग के भी सम्यक्त्व ?

शका–यदि सम्यग्दृष्टि होकर भी विषय कषाय में उलझे रहे, भोग रोग मे फँसे रहे, लडाई झगडे करते रहे, तो सम्यग्दृष्टि मे और मिथ्यादृष्टि मे अतर ही क्या है ?

समाधान–अन्तर, समझ और श्रद्धा का है। आपको यह समझ लेना चाहिये कि 'मोहनीय कर्म' के दो भेद है,–१ दर्शनमोहनीय और २ चारित्र मोहनीय। जिसके दर्शनमोहनीय का उदय होता है, उसके चारित्र मोहनीय का उदय नियम से होता ही है। किंतु जिसके चारित्र मोहनीय का उदय होता है, उसके दर्शनमोहनीय का उदय होता भी है और नही भी होता। दर्शनमोहनीय का जिसके क्षयोपशम हो, उसके चारित्र मोहनीय का उदय जोरदार एवं तीव्र रूप से भी हो सकता है, और तीव्रतर भी हो सकता है। जैसे–भवनपत्यादि सम्यग्दृष्टि देव, सम्यग्दृष्टि नारक, श्री कृष्ण तथा श्रेणिक जैसे मनुष्य। नारक और देवो के तो चारित्र मोहनीय का उदय भवपर्यन्त रहता ही है और कई मनुष्यो के भी रहता है। श्री कृष्ण के सत्यभामादि रानियें होते हुए भी भोग लालसा बनी रही और रुक्मिणी की ओर ललचाये तथा युद्ध किये। उनकी सम्यक्त्व की कसौटी वही हुई कि जब पटरानियो ने महाभिनिष्क्रमण करना चाहा, तो उन्हे रोका नही। अपने हाथो से महोत्सव पूर्वक प्रव्रजित कराया। भोगविलास, राज्य सचालन और युद्धादि मे संलग्न होते हुए भी अन्तर मे तो यही दृढ अभिप्राय कि यह सब खोटा है–दुख दायक है, अध.पतन का मार्ग है। यदि सत्य है, तथ्य है, परम सुख का मार्ग है, तो एक मात्र मोक्ष मार्ग ही है।

जिस प्रकार इज्जतदार व्यापारी, व्यापार करते हुए हर समय अपनी इज्जत और प्रतिष्ठा का ध्यान रखता है। वह इसके लिये न तो जाहिर उद्घोषणा करता है, न 'इज्जत, इज्जत' यो रटन करता रहता है। वह दूसरे व्यापारियो से बातचीत करता है। लेने वाले से लेता है, देने वाले को देता है। ग्राहको को समझाकर पटाता है, कमाता है, खोता है, फिर भी हरदम सावधानी रखता रहता है कि कही मेरी इज्जत को तनिक भी ठेस नही लग जाय। पनिहारी अपने सिर पर दो-दो और तीन तीन कुम्भ रखकर चलती है, रास्ते मे मिलने वाली से हँस हँस कर बाते भी करती है, कभी किसी से लड़ बैठती है, बच्चो को धमकाती है, बडो-बूढो की लाज करती है, इतना सब होते हुए भी वह अपने सिर पर के जल के घडो की ओर से बे-खबर नही है। इसी प्रकार तीव्र चारित्र मोहनीय के उदय से सम्यग्दृष्टि, आरम्भ परिग्रह और भोगविलास मे रहा हुआ तथा काषायिक परिणति युक्त होकर भी मिथ्यात्व से वंचित रह सकता है।

सम्यग्दृष्टि का आयु-बन्ध

शका—सम्यग्दृष्टि युक्त और चारित्र मोहनीय के उदय से प्रभावित मनुष्य, वैमानिक देव का ही आयुष्य कैसे बाँध सकता है, जब कि उस आत्मा पर चारित्र मोहनीय का जोरदार प्रभाव है और उससे उसकी रुचि विषय वासना की ओर बढ़ी हुई है ?

समाधान—मिथ्यात्वोदय का अभाव कोई मामूली वस्तु

नही है। जब मिथ्यात्वी-दर्शन और चारित्र मोहनीय के उदय वाला भी, वैमानिक देव हो सकता है, तो सम्यग्दृष्टि हो उसमे बाधा ही क्या है ? यदि वैज्ञानिक ढग से सोचे, तो ऐसे प्राणी के हृदय मे सम्यक्त्व का सस्कार होने के कारण सदैव ऐसी धारणा बनी रहती है कि 'मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह ठीक नही है। मेरी आत्मा के लिए हितकर और सुखदायक नही है। खरी शाँति देने वाला तो त्याग ही है-भोग नही, विरति ही है-अविरति नही, सवर ही है-आश्रव नही, मोक्ष ही है--ससार नही। जिस दिन इस भोग रूपी रोग से मुक्त होकर त्याग के मार्ग पर चलूँगा, तभी मैं सन्मार्ग पर लगूँगा और उसी से मुझे परमानद की प्राप्ति होगी।' इस प्रकार का अभिप्राय जिसके हृदय मे बना रहे, उसकी गति नही बिगड सकती। प्रथम-श्रेणी के राजबदी को कैद मे खान-पानादि की सुविधा (घर से भी ठीक) होते हुए भी वह अपने को बदी मानता है। साधारण कैदियो से (-जिनसे कठोर परिश्रम कराया जाता है) उस प्रथम श्रेणी के राजबन्दी की स्थिति बहुत अच्छी होती है। साधारण कैदियो को उसका काम करना पडता है। साधारण बन्दियो की दृष्टि मे वह प्रथम श्रेणी का राज-बंदी सुखी है। फिर भी उस बदी का मन कैद मे प्रसन्न नही रहता। वह आजादी को ही उत्तमोत्तम मानता है और आजाद होने की कामना रखता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की दशा होती है। यद्यपि उसके अशुभ लेश्याओ का उदय होता है, किन्तु वह ऐसा होता है कि जिससे नीच गति का आयु नही

बन्धता। अशुभ लेश्या का उदय एक प्रकार की झलक के समान- ऐसा होता है कि जिससे नीच गति के योग्य बन्ध की सामग्री सग्रहित नही होती। हा, जिसके सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व ही अन्य गति का आयुष्य बँध गया है, उसके परिणाम उतने अशुभ हो सकते हैं।

कुछ ऐसे प्राणी भी होते है--जो सम्यक्त्व साथ लेकर छठी नरक मे जाते हैं †। जिस समय वे छठी नरक मे जाते हैं, उस समय से पूर्व ही उनमे तीव्रतर कृष्ण लेश्या के भाव आ ही जाते हैं, क्योकि जिस स्थान पर वे जाते हैं, उसके योग्य लेश्या, मृत्यु के अन्तर्मुहूर्त पहले आ ही जाती है। निश्चय ही आ जाती है। अब विचार करिये कि छठी नरक मे जानेवाले के भाव कितने कलुषित--कितने तीव्रतर--अशुभतर होगे? फिर भी सम्यक्त्व रहती है और सातवी नरक मे तीव्रतम कृष्ण लेश्या होते हुए भी सम्यक्त्व रह सकती है ‡। सम्यक्त्व अवस्था मे नीच गति का बध नही होता, यही सम्यक्त्व का प्रभाव है, किन्तु नीचगति मे जाने वाले के सम्यक्त्व होती ही नही--ऐसा मानना गलत है।

तीव्र कषायी भी सम्यग्दृष्टि ?

शका--यदि तीव्र कषाय मे अनन्तानुबंधी नही होता, तो

---

† भगवती सूत्र श १३ उ. १

‡ अशुभ लेश्या में सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होती, प्राप्त तो शुभ लेश्या में ही होती है, किंतु प्राप्ति के बाद अशुभ लेश्या आजाय तो भी सम्यक्त्व रह सकती है।

सूत्र मे बताया है कि अनन्तानुबधी कषाय तीव्र होकर जीवन पर्यन्त रहती है, इसका क्या समाधान होगा ?

समाधान—यह स्वरूप, कषाय के उस उत्कृष्ट स्थान को सूचित करता है—जो जीवन पर्यन्त रहे, उसे छोडे ही नही और उसी मे जीवनभर लगा रहे। जिसके अस्तित्व से आत्मा का खटका भी नही रहे अपने हिताहित का ज्ञान एकदम भुला दे, तो वह अनन्तानुबधी कषाय होती है। बहुत-से ऐसे प्राणी होते है कि जिन्हे उग्ररूप मे क्रोध आता है, किन्तु थोडी देर बाद शात भी होजाता है, तो उन्हे अनन्तानुबधी का उदय कहना कदाचित् साहस ही होगा। महाराजा चेटक को संग्राम मे अपने प्रतिपक्षी कालिकुमार आदि पर आया हुआ क्रोध,साधारण नही था। उस समय की उनकी मानसिक स्थिति का पता निरयावलिका सूत्र के निम्न मूलपाठ से लगता है।

"तए णं चेडए राया कालंकुमारं एजमाणं पासइ, काले एजमाणे पासित्ता आसुरुत्ते जाव मिसिमिसे-माणे धणुं परामुसई"

'जाव' शब्द से **'रुट्ठे कुविए चंडिक्किए'** विशेषण भी ग्रहण करने चाहिए, अर्थात् वे क्रोध की उग्रता मे धमधमा रहे थे। उस क्रोधावेश मे ही उन्होने कालकुमार को बाण मारकर मौत के घाट उतार दिया था। इस प्रकार के उग्र-क्रोधी को क्या देशविरत श्रावक माना जा सकता है ? हा, क्योकि उनका यह उग्र-क्रोध भी अपने अपराधी पर है। वह अनन्तानुबन्धी तो ठीक, पर अप्रत्याख्यानी की सीमा को भी तोड़नेवाला

नही है। उनका यह क्रोध, थोड़े समय टिकने वाला है। युद्ध क्षेत्र छोड़ने पर उनके चेहरे पर क्रोध की रेखा भी नही रही। इसके पूर्व भी उन्हे अपनी आत्मा का और व्रत का ध्यान था ही। अतएव उग्र क्रोधावेश के समय भी वे सम्यग्दृष्टि माने जा सकते है, भले ही उनमे उस समय भावरूप से कृष्ण लेश्या विद्यमान हो। सम्यग्दृष्टि मे छहो लेश्याएँ होती है।

दशाश्रुतस्कन्ध दशा ६ मे ऐसे सम्यग्दृष्टियो का भी वर्णन है जो विषय कषाय और पाप-पक मे फँसे हुए है। वहा मूलपाठ में लिखा कि–

"से भवइ महिच्छे महारंभे महापरिग्गहे, अहम्मिए, अहम्माणुए ... जाव उत्तरगामिए नेरइए सुक्कपक्खिए आगमेस्साणं सुलभबोहिए यावि भवई। से तं किरियावाई।"

इस प्रकार के महान् इच्छावाले, महान् आरंभ और परिग्रह वाले अधार्मिक और अशुभ परिणति वाले को भी मूलपाठ मे–'किरियावाई, आहियवाई आहियपन्ने, आहियदिट्ठी और सम्मावाई' आदि विशेषण से सम्यग्दृष्टि माना है और वह मरकर उत्तरदिशा की नरक में जाता है। इसमें से कोई २ ऐसे भी होते हैं कि अनन्तकाल, अनन्त अवसर्पिणी उत्सर्पिणिरूप अर्द्ध 'पुद्गल-परावर्त्तन' काल तक ससार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त जन्म मरण करते रहते है, किंतु एक बार प्राप्त हुआ सम्यग्दर्शन, अन्त में उन्हे मोक्ष पहुँचा ही देता है।

शंका–यदि यह माना जाय कि जिस समय उग्र क्रोधादि

हो, उस समय अनन्तानुवंधी कषाय का उदय, और जिस समय मन्द कषाय हो उस समय क्षयोपशम । वैसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी तो एक जीवन मे हजारो बार आ जा सकती है ?

समाधान--यदि ऐसा मानोगे, तो ग्रैवेयक के अहमिन्द्र में—जो मिथ्यादृष्टि भी हैं, मन्द कषाय के कारण अनन्तानुबन्धी कषाय से रहित ही मानना पडेगा और असोच्चा केवली होने के पूर्व उन मिथ्यादृष्टि तापसो को (—जिनकी कषाये वहुत ही उपशान्त थी और जो विपय भोगादि से रहित तथा विभगज्ञानी थे) सम्यग्दृष्टि मानना पडेगा । तथा उन इन्द्रो को जो पल्योपम और सागरोपम तक राग-रग, नाटक और भोगविलास मे फँसे रहते हैं—मिथ्यादृष्टि मानना पडेगा ? किंतु ऐसा मानना सगत नही होगा । अनन्तानुवन्धी का अर्थ, प्रज्ञापना सूत्र के 'कषाय' नामक १४ वे पद की टीका मे **'सम्यग्दर्शन गुण की विघातक'** किया है और पद २३ मे **'अनन्त जन्म का अनुबन्ध कराने वाली'** किया है । इसका दूसरा नाम **'संयोजना'** भी वताया है, जिसका अर्थ है—**अनन्त जन्म मरण में जोड़नें वाली ।'** तात्पर्य सब एक ही है ।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का वमन होने के बाद अंतर्मुहूर्त मे ही पुनर्ग्रहण हो सकता है, तथा एक जीवन मे अधिक से अधिक ९००० वार आ जा सकती है—यह सही है । और किसी-किसी के लगातार ६६ सागरोपम से भी अधिक काल तक रह सकती है । परतु इस आने जाने की पहिचान छद्मस्थ से होना सम्भव नही है और न इसके उपरोक्त लक्षण ही निश्चित है ।

सम्यग्दृष्टि अबन्धक ?

शंका-यह भी कहा जाता है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव, पाप पुण्य कुछ भी नही करता। वह अपने ज्ञान भाव मे ही रहता है। बाहरी क्रियाएं जो होती है, उससे निर्जरा ही होती है, बन्ध नही, क्या ऐसा मानना उचित है ?

समाधान-यदि यह बात अकषायी जैसे महान् एव सर्वोत्तम केवलज्ञानी की अपेक्षा से कही जाय, तो उचित हो सकती है, लेकिन सयोगी केवली को भी इर्यापथिकी क्रिया का दो समय का बन्ध तो होता है। सर्वथा अबन्धावस्था तो शैलेशी और सिद्ध जैसी महान् आत्माओ की ही है। एवभूत नय की अपेक्षा से ही यह संगति बैठती है, अन्यथा गलत ठहरती है। क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव, सरागी भी होते है, कषायी, प्रमादी और अविरत भी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि केवल मिथ्यात्व के पाप से वचित रहता है। अविरति उसके उदय मे ही है। फिर उसे बंध रहित कैसे माना जाय ? अप्रत्याख्यानी चोक के उदय से उसकी आत्मा प्रभावित है, तभी तो वह अविरत माना गया। देशविरत के अशुभ परिणति भी होती है और सर्वविरत-छठे गुणस्थानी श्रमण के भी प्रमाद के चलते बन्ध होता है, ऐसी दशा मे अविरत सम्यग्दृष्टि को बन्ध रहित कौन मानेगा ? चतुर्थ गुणस्थान को बन्ध रहित और केवल निर्जरा करनेवाला मानना तो सिद्धान्त और प्रत्यक्ष से भी विपरीत है।

"सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं"-यह वाक्य अपेक्षा पूर्वक समझना चाहिए। जो मात्र सम्यग्यदृष्टि है, वह दर्शन=दृष्टि

सम्बन्धी पाप नही करता। शेष अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग सम्बन्धी पाप, मात्र दृष्टि सम्पन्नता से नही टल जाता। फिर भी मिथ्यादृष्टि के अभाव और सम्यग्दृष्टि के सद्भाव मे वह अधिकाश पाप से बच जाता है।

तत्त्व श्रद्धा क्यों ?

प्रश्न–देव गुरु और धर्म की श्रद्धा मात्र से सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो सकती है, तो फिर नवतत्त्व, षट्द्रव्य, षट्स्थान आदि पर विश्वास करने की आवश्यकता ही क्या है ?

उत्तर–सामान्यतया सभी बाते देव, गुरु और धर्म मे समावेश हो जाती है। देव को मानने वाला, देव निरूपित तत्त्वो की मान्यता भी करेगा ही। यदि तत्त्वो की मान्यता नही की, तो देव मे श्रद्धा कहा हुई ? तत्त्वो मे अश्रद्धा होना और देव मे अश्रद्धा होना एक ही बात है। इस अश्रद्धा से गुरु मे भी अश्रद्धा हुई। क्योकि गुरु भी तो देव निरूपित तत्त्वो को मानते और प्रचारित करते है। जो गुरु, देव निरूपित तत्त्वो से विपरीत प्रचार करते हैं, वे वास्तव मे सद्गुरु नही हैं। धर्म की श्रद्धा मे भी तत्त्वो की श्रद्धा आ जाती है, क्योकि धर्म के श्रुत और चारित्र ऐसे दो भेद हैं। श्रुतधर्म मे–'निर्ग्रंथ प्रवचन' अर्थात् सभी तत्त्वो, द्रव्यो और स्थानो का समावेश होता है। नय-निक्षेपादि भी इसीमे है। अतएव देवादि तत्त्व-त्रयी मे सभी का समावेश है। संक्षेप-रुचि वाला सम्यग्दृष्टि तो तत्त्व के बनिस्बत देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा ही रखता है।

नव तत्त्व के ३ विभाग होते हैं,–१ हेय, २ ज्ञेय और ३ उपादेय।

१ हेय–बन्ध, आस्त्रव, पुण्य और पाप ।

२ ज्ञेय–जीव और अजीव ।

३ उपादेय–सवर, निर्जरा और मोक्ष ।

पूर्वाचार्य ने कहा है कि–

"हेया बंधासवपुण्णपावा, जीवाजीवा य हुंति विण्णेया ।
संवरणिज्जरमुक्को, तिण्णी वि एओ उवावेया ।"

हेय ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान करना–श्रुत धर्म है,और हेय का त्यागना तथा उपादेय का स्वीकार करना–चारित्र धर्म है । इस प्रकार नव तत्त्व का ज्ञान 'धर्म तत्त्व' मे गर्भित है ।

षट् द्रव्य मे एक जीव है, शेष पाच अजीव है । इनका समावेश नव तत्त्व में के प्रथम दो तत्त्वो मे हो जाता है । षट् स्थान की स्वीकृति भी श्रुत-धर्म मे है । इसमे पूर्णतया विश्वास के साथ स्वीकार किया जाता है कि–१ जीव है, २ जीव सदाकाल से है–शाश्वत है, अनादि अपर्यवसित है, ३ जीव कर्म का कर्त्ता है, ४ जीव कर्म का भोक्ता है, ५ जीव की मुक्ति हो सकती है और ६ मुक्ति के उपाय भी हैं ।

जिनागम (श्रुत धर्म) यही बतलाता है । सभी तत्त्वो और समस्त द्रव्यो का श्रुत-धर्म मे समावेश है । देव, गुरु और धर्म रूप तत्त्व-त्रयी मे सभी तत्त्व आ जाते हैं । 'निर्ग्रंथ प्रवचन' रूप श्रुत-धम, समस्त धर्मो (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, द्रव्य, गुण, पर्याय, लोक, अलोकादि) का मूल है । ऐसे अलौकिक निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर अटल श्रद्धा होना ही सम्यग्दृष्टि होकर जैन धर्म मे प्रवेश पाना है । आज हम 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन रूप जिना-

गमो से ही देव, गुरु, धर्म और हेयोपादेय को जान सकते हैं। इस समय हमारे लिये देव प्रत्यक्ष नही है, किंतु उनके प्रतिनिधि रूप गुरु और उनके प्रवचन रूप आगम हमारे सामने है। उन देवाधिदेव के उपदेश को, उनके प्रतिनिधि (गुरुदेव) हमे समझाते हैं। वे निर्ग्रन्थनाथ देवाधिदेव की आज्ञा का पालन, खुद करते है और हमे भी उनकी आज्ञा की आराधना करने की शिक्षा देते है। हमे उनकी आज्ञा का पालन यथाशक्ति अवश्य ही करना चाहिये।

अटल श्रद्धा

सम्यग्दृष्टि की यह दृढ और अटल श्रद्धा होनी चाहिए कि–'एक मात्र निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही अर्थ है, यही परमार्थ है। इसके सिवाय सभी अनर्थ है। जिसके हृदय मे इस प्रकार दृढ विश्वास हो, जिसके अन्तर्पट से यह ध्वनि निकलती हो कि–

"इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलए संसुद्धे पडिपुण्णे . . वह भक्ति पूर्ण हृदय से यह घोष करता हो कि–

"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।"

अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी देवाधिदेव ने जो प्रतिपादन किया है, वह पूर्ण रूप से सत्य है, सन्देह रहित है। इस प्रकार हृदय से माननेवाला दृढता पूर्वक निर्णय कर लेता है कि–

"णिग्गंथं पावयणं अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।"

अर्थात्–आत्मा के लिए विश्वभर मे यदि कोई सामान्य प्रयोजन–हितकारी वस्तु है, तो एक मात्र निर्ग्रन्थ प्रवचन ही है, और परमार्थ (उत्कृष्ट हितकारी वस्तु) है तो भी यही है। सर्वोपरि कार्य-साधक भी निर्ग्रंथ-प्रवचन ही है। इसके सिवाय संसार की सभी वस्तुएँ, सभी विचार, समस्त आचार और सभी प्रयत्न, केवल अनर्थ रूप है। दुख परम्परा को बढाने वाले हैं। इस प्रकार की दृढ श्रद्धा रखने वाला और अनिष्ट संयोगो–विपरीत परिस्थितियो मे भी श्रद्धा को कायम रखने वाला, कालान्तर मे (या भवान्तर मे) क्षायक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। फिर यथाख्यात चारित्री बनकर और जन से जिन होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अधिक से अधिक क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीव, १५ भव से अधिक नही करता। फिर वह मोक्ष पा ही लेता है।

खुद को परखो

'मुझ मे सम्यक्त्व है, या नही ?'–यह प्रश्न भव्य जीवो के मन में उठना स्वाभाविक है। पूर्वाचार्य कहते हैं कि ऐसे प्रश्न भव्य जीवो के मन मे ही उठते हैं। यद्यपि भव्य अभव्य का नि.सन्देह निर्णय छद्मस्थ नही कर सकता और न सम्यक्त्व मिथ्यात्व का फैसला ही कर सकता है। इसका निर्णय सर्वज्ञ के अधिकार में है। देवता और इन्द्र भी (जिनके पास अवधिज्ञान था) अपने, खुद के भव्य, शुक्ल-पक्षी, सम्यक्त्वी आदि होने का निर्णय नही कर सके। वे भगवान् जिनेश्वर देव के पास आये और

पूछा कि–"प्रभो ! मैं भव्य हू या अभव्य... तब अपने जैसे अल्पज्ञ क्या समझ सकते हैं ? फिर भी यदि हम अपनी श्रद्धा की दृढता को देखे, विचार करे और अन्तर्निरीक्षण करे, तो मैं समझता हूं कि हम ठीक निर्णय तक पहुँच सकेंगे ।

हम सोचें कि हमने ससार मे, आत्मा के लिये हितकारी, प्रयोजनभूत एवं उपादेय ऐसे निर्ग्रन्थ प्रवचन को माना है ? संसार के समस्त वादो और शब्दादि इष्ट विषयो–भौतिक सुख सुविधाओ और अधिकारो से भी बढकर निर्ग्रन्थ-प्रवचन को स्थान दिया है ? हमारे हृदय मे मजबूती के साथ यह जम गया है कि–निर्ग्रंथ प्रवचन ही अर्थ है–"**अयं अट्ठे**" कूट कूट कर भरा है ? यदि हमारे हृदय से यह स्वीकारात्मक भाव उठें कि–"**निग्गंथं पावयणं अट्ठे**", तो समझना चाहिये कि "**हम सम्यग्दृष्टि**" की श्रेणी मे स्थान पाने के योग्य हैं । यह तो हुआ सामान्य अर्थ, किंतु इसमें आगे बढ कर हममें यह भी विश्वास हो कि–'सामान्य अर्थ ही नही. परन्तु परम अर्थ (सर्वोपरि हितकारी = उत्कृष्ट प्रयोजनभूत) भी निर्ग्रन्थ प्रवचन ही है–'**अयं परमट्ठे**',तो समझ लेना चाहिये कि हम सम्यग्दृष्टि है और इसके बाद यह भी अभिप्राय दृढतापूर्वक निकले कि "**सेसे अणट्ठे**"–निर्ग्रन्थ प्रवचन के अतिरिक्त जितने भी भाव दुनिया मे हैं, वे सबके सब अनर्थ है, अहितकर हैं, आत्मा को परमात्म स्थिति पर पहुंचाने मे अयोग्य है । सभी अनर्थ एवं अहित के कारण हैं, तो अपने को सम्यग्दृष्टि समझने मे किंचित् भी शंका नही करनी चाहिये । यह बात तो स्वत के अनुभव

करने योग्य है। निश्चित्त तो नही, पर विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रकार की परख लगभग सही और सच्ची ही निकलेगी।

महान् आधार-स्तम्भ

सम्यग् दर्शन जीव के लिए महान् आधार-स्तम्भ है। जब तक इसकी प्राप्ति नही होती, तब तक अनन्त जन्म-मरण का बीज (मिथ्यात्व) मौजूद ही रहता है। मिथ्यात्व की जड़ काट देना, अनन्त जन्म-मरण की जड काटना है। संसार मे सर्वत्र मिथ्यात्व भरा हुआ है। अनन्तानन्त जीव, मिथ्यात्व के चंगुल मे फँसे हुए हैं। सारा वातावरण मिथ्यात्वमय बना हुआ है। ऐसे वातावरण मे सम्यक्त्व की खैर कहाँ ? जिस प्रकार भयानक वन में जीवन और धन की सुरक्षा होना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से भरपूर ससार मे सम्यक्त्व का सुरक्षित रहना भी कठिन हो जाता है। कई भोले जीव, लुट जाते हैं, अपने सम्यक्त्व रत्न को खो बैठते हैं और फिर से मिथ्यात्व के चगुल में फँस जाते हैं। इनमे से कई तो अनन्त जन्म-मरण कर लेते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व महा भयानक डाकू है। जितना बल चारित्रावरणीय-मोह का नही, उतना दर्शनमोहनीय का है। सित्तर कोडाकोड़ी सागरोपम से भी अधिक स्थिति दर्शनमोहनीय की है। जीव का भयानक-शत्रु मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के चंगुल मे दृढता पूर्वक जकडा हुआ प्राणी, अनादि काल से दु.ख भोग रहा है। यदि जीव का सम्यग् पुरुषार्थ जागृत होकर एक बार थोड़ी देर के

लिए भी—अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व को अपना ले, एकबार इस आधार-स्तभ को पकडले, तो निहाल हो जाय। फिर मिथ्यात्व का उस पर जोर नही चल सकता। वह जीव कभी पुन मिथ्यात्व के चक्कर मे आ भी जाय, तो उसमे लगे सम्यक्त्व के सस्कार उसका उद्धार करके ही छोड़ते हैं। फिर उस आत्मा की मुक्ति मे सन्देह नही रहता। मिथ्यात्व की यह शक्ति नही कि उस आत्मा को अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन से अधिक ससार मे रोक सके। यह सम्यक्त्व रूपी महान् आधार-स्तंभ, अपतित जीवो के लिए तो उपकारी है ही। उन्हे १५ भव से अधिक नही करने देता। किन्तु पतित जीवो के लिए भी उपकारी है। उन्हे अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन के पूर्व ही मोक्ष में पहुँचा देता है।

सम्यक्त्व रूपी आधार-स्तंभ को दृढता पूर्वक पकड़ने वाला चारित्र को भी प्राप्त कर लेता है और अप्रमत्त होकर अकषायी—वीतराग बन जाता है। वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर सिद्ध हो जाता है। जिसने इस आधार को छोडा, उसका चारित्र भी व्यर्थ होजाता है। उपशांत-मोह वीतराग, ग्यारहवे गुणस्थान से गिरकर मिथ्यात्व के चक्कर में भी वे ही पडते हैं—जिन्होने सम्यक्त्व रूप आधार-स्तंभ को छोड दिया। ऐसी आत्मा नरक निगोद मे भी जा सकती है, किंतु चारित्र से पतित होकर भी जिसने इस आधार-स्तभ को नही छोड़ा, वह ऐसी अधम दशा को प्राप्त नही होती। मिथ्यात्व का क्षय कर देने वाला यदि पहले से आयुकर्म को नही बाधा हुआ हो,

तो वह अवश्य ही, उसी भव मे मुक्ति प्राप्त करेगा। यदि चारित्र से गिर गया, तो फिर चढेगा,अवश्य चढेगा। उसका वह आधार-स्तभ उसे नही गिरने देगा। ऐसा अचिन्त्य अनुपम और अपूर्व प्रभाव है इस सम्यक्त्वरूपी आधार-स्तंभ का।

निगोद से खिंच कर लाने वाला

मिथ्यात्व के उदय से जीव, सम्यक्त्व से पतित हो जाता है। ऐसे जीवो मे से कुछ जीवो की दशा इतनी बिगड जाती है कि जो निगोद मे जाकर उत्पन्न हो जाते हैं। वहा एक शरीर मे अनन्त जीव रहते हैं। उस शरीर मे ऐसे जीव भी होते हैं, जो अभव्य तथा कृष्णपक्षी होते हैं। ऐसे जीवो के साथ एक ही शरीर में वह जीव रहता है। उनका आहार और श्वासोच्छ्वास भी एक साथ होता है। भौतिक सुख दु ख समान होते हैं। इस प्रकार वह निकृष्टतम दशा मे पडा हुआ होने पर भी उसमे विशेषता है। एक बार के सम्यक्त्व के स्पर्श ने उसमे इतनी योग्यता तो रख ही दी कि वह शुल्कपक्षी ही रहता है। उसके सम्यक्त्व के वे संस्कार उसे निगोद से निकाल कर पुन सम्यक्त्व की ओर आकर्षित करते हैं और वह सम्यक्त्व और विरति पाकर परमपद को प्राप्त कर लेता है। ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है सम्यक्त्व-रत्न का। इसलिए परम कृपालु गुरुदेव कहते हैं कि—"हे जीव ! सम्यग्दृष्टि बन—बुज्झ, बुज्झ, बुज्झ।"

मिथ्यात्व की भयंकरता

जिस प्रकार विष की एक बूंद भी प्राण-घातक हो सकती

है, उसी प्रकार मिथ्यात्व का किंचित्–थोड़ा-सा स्वीकार भी सम्यक्त्व का घात कर देता है। समाचार पत्रो मे ऐसी खबरें भी पढने को मिली–कि 'अमुक रोगी ने, दवा के भरोसे विष पी लिया और मर गया। अलमारी मे दवाइयो की अनेक बोतलें रक्खी हुई है, उसमे एक विष की बोतल भी है। एक डॉक्टर, खुद भूल कर दवा के वदले विष पी गया और मर गया। अलमारी मे दवा की बोतलें अधिक थी और विष की तो एक ही थी, फिर भी भूल हो गई और उसका घातक परिणाम भुगतना पड़ा। दूसरी ओर सारा विश्व मिथ्यात्व से भरा हुआ है। दुनिया के आकर्षक और मोहक साधन तथा विषय-कषाय को भडकाने के निमित्त, प्रचुर मात्रा मे मौजूद है और सम्यक्त्व के निमित्त वहुत ही थोडे। वे मोहक निमित्त प्रति समय सम्यक्त्व को दूषित करना चाहते है। यदि पूरी सावधानी नही रक्खी गई, तो सम्यक्त्व का स्थिर रहना कठिन हो जाता है।

जिस चारित्र के कारण सभी कर्मों का नाश होकर मोक्ष मिल सकता था, उस चरित्र मे थोडा-सा मिथ्यात्व का विष मिल गया, तो क्या हुआ ? अधिक से अधिक ग्रैवेयक देव होकर सागरोपमो तक दैविक सुख भोगते रहे, पर अंत मे पुनः जन्म और पुन. मृत्यु, यह क्रम तो चलता ही रहा। मिथ्यात्व के विष से दूषित वने हुए, उग्र चारित्र से जीव का एक भी भव कम नही हुआ।

मिथ्यात्व के मोहक रूप

मिथ्यात्व अपने नग्न रूप मे (भोडी शकल में) भी

आता है और सुन्दराकार बनकर भी आता है। बीभत्स रूप मे आये हुए मिथ्यात्व से तो समझदार बच सकते हैं, किंतु सुन्दर रूप मे सजधज कर आया हुआ मिथ्यात्व, बड़े बडे समझदारो को भी चक्कर मे डालकर अपने चंगूल मे फँसा लेता है। जिस प्रकार ऊपरी चमक-दमक और नाज-नखरो को देखकर लोग, बदसूरत पर भी आसक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सुन्दर आवरणो में रहा हुआ मिथ्यात्व, सम्यग्दृष्टियो को भी अपनी ओर खीच लेता है। भले ही आभिग्रहिक अथवा आभिनिवेशिक मिथ्यात्व नही हो, प्रकृति सरल हो और जैसा समझ मे आया वैसा स्वीकार किया हो। किंतु इससे क्या हुआ ? क्या मिथ्यात्व रूपी विष, सरलता के कारण अमृत हो गया ? नही, सरलता और विश्वास के साथ, सोने के भरोसे खरीदा हुआ पीतल, खरीददार को दु खदायक ही होता है।

वास्तव मे मिथ्यात्व भयकर वस्तु है। जब तक यह प्राणी के साथ लगा रहता है, तब तक वह घनचक्कर ही बना रहेगा। उसके चार गति के चक्कर मे कोई कमी नही आयगी। इसलिए मिथ्यात्व के गाढ़ बन्धन से मुक्त होना ही जीव की बडी भारी सफलता है।

मार्ग एक या अनेक ?

प्रश्न—हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि किसी एक स्थान पर पहुँचने के अनेक मार्ग होते हैं, जिस पर चल कर कोई भी मनुष्य या पशु, उस स्थान पर पहुँच सकता है, उसी प्रकार मोक्ष के भी अनेक मार्ग होने चाहिए और किसी भी प्रकार की

साधना से, किसी को भी मुक्ति प्राप्त हो जानी चाहिए—ऐसा मानना ठीक है क्या ?

उत्तर—आपका कथन किसी अपेक्षा से ठीक है। निम्न दृष्टिकोणों से यदि हम उपरोक्त प्रश्न पर विचार करें, तो समाधान हो सकता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हमें १२ द्वारों पर विचार करना होगा।

१ द्रव्य, २ क्षेत्र, ३ काल, ४ भाव, ५ भव, ६ जाति ७ लिंग, ८ वय, ९ वेश, १० आचार-विचार, ११ साधक और १२ बाधक।

१ द्रव्य—आत्म-द्रव्य ही के लिए मुक्ति का विचार होता है। वही आत्मा मुक्ति के योग्य होती है जो भव्य हो, शुक्लपक्षी हो, परिमित संसारी हो, आयुकर्म का अबन्ध कहो, सम्यग्दृष्टि, विरत, अप्रमत्त, अवेदी, अकषायी, अरागी, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अयोगी, अलेशी और अकर्मी हो। इस प्रकार की योग्यता वाली आत्मा, मुक्ति प्राप्त कर सकती है। यह मुक्ति के योग्य द्रव्य है।

२ क्षेत्र—द्रव्य किसी क्षेत्र में ही होता है। अतएव क्षेत्र सम्बन्धी विचार करना भी आवश्यक है। मुक्ति के योग्य प्राणियों का उत्पत्ति क्षेत्र पन्द्रह कर्मभूमि ही है। इनमें उत्पन्न जीव ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु साहरण की अपेक्षा अकर्मभूमि, अन्तर्द्वीप, नदी, समुद्र, उर्ध्वलोक और अधोलोक में भी मुक्ति प्राप्त की जासकती है। इसके योग्य मनुष्य क्षेत्र (पैंतालीस लाख योजन प्रमाण) है। इसमें से किसी भी क्षेत्र से मुक्ति

प्राप्त की जासकती है ।

३. काल–महाविदेह मे तो किसी भी काल मे मुक्ति हो सकती है, किंतु भरत एरवत के अवसर्पिणि काल के चौथे आरे मे और पाँचवे आरे के प्रारम्भ के कुछ काल में तथा उत्सर्पिणि काल के ३–४ आरे मे सिद्ध होते हैं ।

४ भाव–क्षायिक भाव से सिद्ध होते है । यो तो मुक्त जीवो मे वस्तुत पारिणामिक भाव ही होता है, किंतु सिद्ध होते समय क्षायिक भाव होता है । इससे वे कर्मों को क्षय करते हैं और नये कर्मों का वंध नही करते । इसलिए उपचार से सिद्धो मे क्षायिक भाव माना गया है । उदय, उपशम अथवा क्षयोपशम भाव मे रहने वाले सिद्ध नही हो सकते । मोक्ष मे जाने का परम्परा कारण क्षायोपशमिक भाव है और अनन्तर कारण क्षायिक भाव है ।

५ भव–एक मात्र मनुष्य भव ही मुक्ति के योग्य है । देव, नारक और तिर्यञ्च भव इसके योग्य नही है ।

६ जाति–पंचेन्द्रिय जाति ही से अनिन्द्रिय होकर मुक्ति लाभ की जा सकती है, एकेद्रिय से चौरेन्द्रिय जाति से नही । ऊँच, नीच और मध्यम ऐसे सभी कुलो मे से सिद्ध हो सकते हैं ।

७ लिंग–पुरुष, स्त्री और नपुसक लिंग से, अवेदी अवस्था प्राप्त कर सिद्ध हो सकते हैं ।

८ वय–बाल, युवक, प्रौढ और वृद्ध वय से सिद्ध हो सकते है ।

९ वेश–गृहस्थ वेश, अन्यतीर्थी वेश और मुनि वेश से भी सिद्ध हो सकते हैं । राजमार्ग तो मुनि वेश से सिद्ध होने का है ।

१० आचार विचार–सम्यग् विचार और आचार (केवली प्रणीत धर्म के अनुसार) पालनेवाले ही सिद्ध हो सकते हैं।

असम्यग् (मिथ्या श्रद्धान् आदि) से मुक्ति प्राप्त नही कर सकते। समयाभाव से, द्रव्य-लिंग से गृहस्थ और अन्यतीर्थी रहते हुए भी सिद्ध हो सकते है, किंतु भाव-लिंग (श्रद्धा और स्पर्शना) तो स्वलिंग=सम्यक् ही होनी चाहिए। इसके बिना सिद्धि हो ही नही सकती। वचन द्वारा प्ररूपणा का अवसर हो, तो वह भी सम्यग् ही होनी चाहिए। मिथ्या प्ररूपणा के चलते मुक्ति नही हो सकती।

११ साधक–सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही मुक्ति के सच्चे साधन है। संवर-सह निर्जरा से मोक्ष की साधना होती है। इसीसे मुक्ति प्राप्त होती है। जिनाज्ञा के अनुकूल परिणति ही साधक कारण है।

१२ बाधक–मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग, मुक्ति के लिए बाधक है। जबतक आस्रव है, तबतक बंधन बढ़ते ही रहते है और जब तक वन्धन है, तबतक मुक्ति नही हो सकती। जो लोग आरम्भ परिग्रह को मुक्ति के लिए अनुकूल साधन मानते हैं, जिनकी दृष्टि आत्मशुद्धि की ओर नही होकर लोक-रुचि अथवा संसार-रुचि की ओर लगी हुई है, वे बाधक कारण को पकडे हुए हैं। जबतक यह कारण मौजूद रहेगा, तबतक मुक्ति नही होने की।

हमने यहा संक्षेप मे उपरोक्त बारह द्वारो पर विचार किया है। इनके सिवाय और भी अनेक द्वार बन सकते हैं।

इस प्रकार सम्यग् विचार करने से समाधान हो सकता है। मोक्ष के साधन सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप है। इनसे निष्पन्न मार्ग ही मोक्ष मार्ग है।

कल्पना करो कि 'भारत' के मध्य भाग मे 'सिद्धपुर' नामका एक श्रीसम्पन्न रमणीय नगर है। सिद्धपुर के पश्चिमी भाग मे रहा हुआ कोई व्यक्ति, सिद्धपुर के लिए–उसी दिशा मे–पूर्व की ओर चले, तो सिद्धपुर पहुँच सकता है। इसी प्रकार अन्य तीन दिशाओ मे रहे हुए तीन व्यक्ति, सिद्धपुर की दिशा मे पश्चिम, उत्तर और दक्षिण मे चले, तो सिद्धपुर पहुँच सकते है। चारो के क्षेत्र भिन्न भिन्न होते हुए और भिन्न दिशा मे रहते हुए भी वे सब एक सिद्धपुर की ही दिशा मे चल रहे है। पश्चिमवाला पूर्व की ओर चलता है, उसके लिए सिद्धपुर की दिशा पूर्व है और, पूर्ववाले के पश्चिम मे है। चारो ही एक सिद्धपुर की दिशा में ही चल रहे है, इसीसे वे सफल मनोरथ हो सकते हैं। यदि पूर्ववाला पूर्व मे, और दक्षिण वाला दक्षिण में चले, तो उनके मार्ग एक नही है–सिद्धपुर की ओर नही है। इसलिये ऐसे भिन्न मार्गवाले असफल रहते है, और ध्येय से दूर–अति दूर चले जाते है। उनका श्रम दु खदायक होता है।

कोई सामायिक चारित्र से सीधे सूक्ष्मसपराय को स्पर्श-कर यथाख्यात चारित्री हो जाते है, और कोई सामायिक के बाद छेदोपस्थापनीय और परिहार विशुद्ध चारित्र पालने के बाद आगे बढते हैं। कोई लम्बे समय तक चारित्र पालते है, तो कोई थोडे ही समय मे उग्र प्रयत्न द्वारा ध्येय साध लेते है।

कोई राजमार्ग का अनुसरण करते हैं, तो कोई गजसुकुमाल अनगार की तरह उबडखाबड मार्ग को छलाग मारकर पार कर लेते है। इस प्रकार अनेक मार्ग होते हुए भी प्रयत्न अनुकूल हो-सम्यग् अनुष्ठान हो, तो सफलता हो सकती है। जिनकल्प, स्थविरकल्प, कल्पातीत, ये भिन्न मार्ग होते हुए भी सम्यग् परिणति युक्त है। ऊबडखाबड़ मार्ग से चलनेवालो के लिए, खतरे के स्थान अधिक होते हैं। यदि सत्व की न्यूनता हो, तो पतन की अधिक संभावना रहती है।

सिद्धि का राजमार्ग सरल है। उसमे खतरे के स्थान उतने नही है। 'सलिग' राजमार्ग है। गृहलिग और अन्यलिग राजमार्ग नही है। प्रचार और समर्थन के लायक नही है। निर्ग्रंथ प्रवचन ने सिद्धातत स्वीकार किया है कि सलिग मे, एक समय मे १०८ तक सिद्ध हो सकते हैं, किंतु गृहस्थलिग में अधिक से अधिक चार ही। इसमे सिद्ध होता है कि गृहलिग राजमार्ग नही है। गृहलिग मे लाखो मे से एकाध सफल होते है। उनकी परिस्थिति भिन्न प्रकार की होती है। यदि वे स्वयं गृहस्थलिग को उपादेय मानकर पकडे रहे, तो कदापि सिद्ध नही हो सकते। ऊपरी लिग गृहस्थ या अन्यतीर्थी का होते हुए भी भीतरी-भावलिग तो उनका भी स्वलिग ही होता है। भावों से भी यदि वे द्रव्यलिग की तरह ही हो, तो कभी भी सिद्ध नही हो सकते। 'सलिग' अर्थात्-अपना लिग, संयम का लिग, मोक्षार्थियो का लिग। 'अन्यलिग' अर्थात् दूसरो का, संसार का, असंयम का लिग।

कोई विष खाकर भी आरोग्य लाभ करले, तो विषपान आरोग्यप्रद नही माना जाता। कहते हैं कि 'किसी असाध्य रोगी ने रोग से तंग आकर, मरने के उद्देश से विषपान कर लिया। किंतु वह विषपान उसके रोग की उपशांति का कारण बनगया। "मरता आकडा पीवे"–इस देशी कहावत के अनुसार यदि कोई गृहस्थ या अन्यलिंग मे रहते हुए भी (असोच्चा केवली की तरह) भावो के सुलटने से सम्यग् परिणतिवाला हो जाय और श्रेणी प्राप्त कर अन्तकृत केवली होजाय, तो उसकी पूर्व परिणति की सराहना नही की जा सकती। विषपान, आरोग्यता का सम्यग् साधन नही माना जाता। इसी प्रकार अन्यलिंगादि साधन भी मोक्ष का सही साधन नही माना जाता। जो लोग, कुश्रद्धा के चलते अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ दशा को मोक्ष मार्ग मानने के लिए 'अनेक मार्ग' की युक्ति पेश करते हैं, वे गलत प्रचार करते हैं।

उपरोक्त विषय पर हम दूसरी दृष्टि से भी विचार करते है।

कई विशिष्ट स्थान ऐसे भी होते है कि जहाँ पहुँचने का एक ही मार्ग होता है। जिस गाँव के तीन ओर पहाड हो, या नदी आदि से घिरा हुआ हो, अथवा सुरक्षा की दृष्टि से किला बनाकर जाने आने का–चित्तोड़गढ़ की तरह केवल एक ही मार्ग रखा हो, या ऐसे दुर्गम पहाड़ पर बसा हो कि जहाँ पहुँचने का एक ही रास्ता हो, तो उस ग्राम या नगर मे एक ही रास्ते से पहुँचना होगा। बृहद्कल्प सूत्र प्रथम उद्देशक के दसवे

सूत्र मे ऐसे स्थान का उल्लेख करके विधान किया है कि "जिस गांव, नगर यावत् राजधानी मे प्रवेश करने और निकलने का केवल एक ही द्वार हों, तो उस ग्राम नगरादि मे साधु और साध्वी को–दोनो को, नही रहना चाहिए। यदि साधु रहे, तो साध्वी नही रहे और साध्वी रहे तो साधु नही रहे"। इस प्रकार एक ही द्वार और एक ही मार्ग वाले कुछ ग्रामादि भी होते हैं। चतुर्गति रूपी संसार मे परिभ्रमण वाले स्थान के लिए तो हिंसादि १८ पाप रूप अनेक मार्ग है। प्रत्येक मार्ग से नरकादि मे जाया जा सकता है। परन्तु मोक्ष रूपी महानगर के लिए तो एक-मात्र मार्ग–'निवृत्ति' ही है। ससार (–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग)से निवृत्त होकर सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र अर्थात् श्रद्धा और चारित्र रूपी दो चरण की प्रवृत्ति से मोक्ष महानगर की दिशा मे गति करना और क्षपक-श्रेणी के एक-मात्र द्वार से हो कर मोक्ष महानगर मे पहुँचना होता है। इसके सिवाय दूसरा मार्ग है ही नही, बिल्कुल नही।

किसी खास स्थान पर पहुँचने के लिए प्रस्थान करते समय तो विविध मार्ग हो सकते हैं, कितु आगे चलकर सभी को एक ही मार्ग पर आना पडता है। जिस प्रकार अपने निवास स्थान से निकल कर रेल्वे-स्टेशन पर पहुँचने के लिए कई मार्ग होते हैं, किंतु स्टेशन के अहाते मे एक ही मार्ग से सब को प्रवेश करना होता है और एक ही रास्ते से निकल कर गाड़ी मे बैठा जाता है, उसी प्रकार मोक्ष की ओर कदम बढाने वाले के भी प्रारम्भ मे विभिन्न मार्ग होते हैं। कोई पाखण्ड और मिथ्या-

मत के अनेक मार्ग रूप मिथ्यात्व के प्रथम गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान मे आकर आगे बढते है, तो कोई तीसरे को छोडकर चौथे मे आकर आगे बढते है। कोई चौथा भी छोड़कर पाँचवे मे पहुँच जाता है और कोई कोई भव्यात्मा, प्रथम गुणस्थान से छलाग मारकर सीधे सातवे गुणस्थान मे पहुँच जाती है। इसके बाद तो सभी को एक ही मार्ग पर आना होता है और क्षपक-श्रेणी के द्वार से गुजर कर ही मोक्ष-महालय मे पहुँचा जाता है।

कई आत्माएँ चौथे गुणस्थान से ही मार्ग भ्रष्ट होकर तीसरे, दूसरे, या पहले गुणस्थान मे पहुँच जाती हैं। कई पाँचवे से भटक जाती हैं और कई छठे से। वापिस लौटने की स्थिति दसवे गुणस्थान तक है। ग्यारहवे गुणस्थान मे चली जाने वाली आत्मा तो निश्चय ही लौटती है।

आठवे गुणस्थान से दो मार्ग निकलते हैं--उपशम और क्षपक। जो उपशम श्रेणी चढा, वह ग्यारहवे गुणस्थान पर पहुँच कर रुक जाता है। उसे वहाँ से लौटना ही पडता है। यदि उस आत्मा ने वहाँ पहुँच कर, उसी गुणस्थान मे मृत्यु प्राप्त करली, तो वह सर्वार्थसिद्ध महाविमान (छोटी मोक्ष) मे जाकर ३३ साग-रोपम तक देव सम्बन्धी परम सुख भोगती है और वहाँ से मर कर मनुष्य होती है। फिर उसे चौथे गुणस्थान से आगे बढकर क्षपकश्रेणी के एक मात्र मार्ग से ही मोक्ष महल में पहुँचना होता है। इसके सिवाय दूसरा मार्ग है ही नही।

अनेक मार्ग वहाँ होते हैं--जहाँ से अनेक स्थानो पर--अनेक दिशाओ में जाया जाता है। जाने वाले भी बहुत होते

हैं। चतुर्गति के अनेक स्थानो पर जाने के लिए हिंसादि पाप और अकाम निर्जरा, पुण्योपार्जन, सरागता, सकर्मता आदि कारण होते हैं। इन सब के मार्ग भी अलग अलग होते हैं। सिद्ध गति तो ऐसी है कि जिसका एक ही मार्ग है और वहाँ जाने वाले भी थोडे ही होते हैं।

जिस प्रकार भव्य भवन के शिखर पर पहुँचने के लिए एक ही सीढी (चढने का मार्ग) होता है, उसी प्रकार मोक्ष-महल मे पहुँचने के लिए निवृत्ति का एक ही मार्ग है और क्षपकश्रेणी के सोपान चढकर ही पहुँचा जाता है। इसके सिवाय और कोई मार्ग नही है।

सर्वज्ञता पर श्रद्धा

प्रश्न—जिनेश्वरो के त्याग, उनकी उत्कृष्ट तपस्या, उनकी अपूर्व वीतरागता और महान् आत्मबल पर विश्वास हो सकता है, किंतु एक मात्र सर्वज्ञ सर्वदर्शी नही माना जाय तो क्या हर्ज है ?

उत्तर—यदि जिनेश्वरो को सर्वज्ञ सर्वदर्शी नही माना जाय, तो सम्यग्दृष्टि से त्यागपत्र देना ही माना जायगा। जो मिथ्यादृष्टि होते हैं,वे ही जिनेश्वरो की सर्वज्ञता से इन्कार करते हैं। ऐसा करके वे समस्त तत्त्व-ज्ञान को ही अमान्य जाहिर करते है। क्योकि जिसने सर्वज्ञता नही मानी, वह धर्मास्तिकायादि द्रव्य, स्थावरकाय और निगोद के जीव, नर्क, स्वर्ग, मोक्ष आदि किस आधार से मानेगा ? वह इनसे भी इन्कार कर सकेगा।

और इस प्रकार जैन तत्त्व-ज्ञान से ही असहमत हो जायगा।

विश्व मे ज्ञेय वस्तुएँ अनन्त–अनन्तानन्त है। छद्मस्थ जीव, सख्यात वस्तुओ का आशिक प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकता है, शेष अनन्तानन्त वस्तुओ के विषय मे वह नही जानता। प्रत्येक छद्मस्थ जीव, अनन्तानन्त ज्ञेय वस्तुओ के विषय मे अनजान है। जब एक मनुष्य मे अनन्तानन्त अज्ञान माना जा सकता है, तो किसी एक मे अनन्तानन्त ज्ञान क्यो नही माना जाता ?

अनपढ जीव अनन्त हैं, पढे लिखे मनुष्य थोड़े ही होते हैं। उनमे भी साधारण पढे लिखे अधिक और विशिष्ट विद्वान् थोडे। उन विशिष्ट विद्वानो मे भी ज्ञान की तरतमता होती है। कोई किसी एक विषय मे अधिक अनुभव रखता है और दूसरे विषय मे थोड़ा, तथा शेष विषयो मे अनभिज्ञ। इस प्रकार करोडो मनुष्यो मे अधिक विषयो को गहराई के साथ जानने वाले इतने थोडे होगे कि जो अंगुलियो पर ही गिने जा सके। जबतक ग्रामोफोन, टेलिग्राफ, रेडियो, हवाईजहाज, अणुबम आदि आश्चर्य जनक वस्तुओ का आविष्कार नही हुआ था, तब तक दुनिया के सभी मनुष्य इन वस्तुओ के ज्ञान से अनभिज्ञ ही थे। एक भी मनुष्य इन चीजो को नही जानता था। सबसे पहले इन वस्तुओ का ज्ञाता एक ही व्यक्ति हुआ। वर्त्तमान संसारभर में एक मात्र वही इसका ज्ञाता था और उसी ने आविष्कार करके संसार को आश्चर्य में डाल दिया। यद्यपि जैन मान्यतानुसार इस अनादि संसार मे ऐसे आविष्कार अनन्तवार हो चुके. तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से ये वस्तुएँ वर्त्तमान युगो में बिलकुल नयी और सर्व प्रथम ही मानी जायगी। अभी ऐसी कितनी ही वस्तुएँ छुपी हुई

है, जो दुनिया के किसी भी मनुष्य की दृष्टि मे नही है, जब वे प्रकाश मे आवेगी, तब ससार चकित होकर उनको सर्वथा नयी मानने लगेगा। इसी प्रकार सर्वज्ञता के विषय मे भी जानना चाहिये। ससार के समस्त द्रव्यो और उनके गुण पर्यायो के ज्ञाता-दृष्टा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, किसी समय इस ससार मे अवश्य थे और हजारो वर्ष बाद भी अवश्य होगे। प्रत्यक्ष को ही सब कुछ और सर्वथा सत्य मानकर अप्रत्यक्ष वस्तु के लिये सर्वथा इन्कार करने वाले सुज्ञ नही है। प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वालो के लिये उपर्युक्त अद्भूत वस्तुएँ–आविष्कार के पूर्व–असत्य मानी जाती थी, वे ही निर्माण के बाद सत्य मानी जाने लगी। इसी प्रकार आगे भी होगा। अतएव प्रभु की सर्वज्ञता सर्वदर्शिता से इन्कार करना समझदारी नही है, यह मिथ्यादृष्टि का परिणाम है।

देश सम्यक्त्व क्यों नहीं

प्रश्न–यदि तीर्थंकरो की सर्वज्ञता मान ली जाय, किंतु षट्-द्रव्य नौ-तत्त्वादि मे से किसी एकाध तत्त्व अथवा उसके किसी अश को नही माना जाय, तो मिथ्यात्व नही लगना चाहिये। जिस प्रकार पूर्ण रूप से चारित्र नही पाल सकने वाले को कुछ कम पालने पर देश-चारित्री कहा जाता है, उसी प्रकार देश सम्यक्त्व भी मानना चाहिये ?

उत्तर–सम्यक्त्व तो पूर्ण रूपेण होती है, देशरूप मे नही। क्योकि जहाँ किसी एक वस्तु के लिये इन्कार हुआ, वहा मिथ्यात्व का प्रवेश हो ही गया। प्रज्ञापना सूत्र के बावीसवे पद मे

लिखा कि 'मिथ्यात्व सभी द्रव्यो से संबध रखता है।' श्री जिन वचनो मे किंचित् मात्र भी सन्देह किया, तो मिथ्यात्व का भाजन हो जाता है। व्रत–चारित्र की बात दूसरी है। वह शक्ति से सम्बन्ध रखता है। हृदय से चाहते हुए भी शक्ति की न्यूनता से देश-चारित्र होता है। चारित्र के गुणस्थान भी पृथक् पृथक् हैं। सम्यक्त्व के लिये तो एक-मात्र चौथा गुणस्थान ही है। इसमे देश और सर्व का विभाग नही है। और श्रद्धा तो मात्र अभिप्राय का विषय होने के कारण चारित्र के समान शक्ति का प्रश्न भी उपस्थित नही होता। जमाली का चारित्र उत्तम था, किंतु एक विषय मे अश्रद्धा हो जाने से वह विराधक हुआ (मिथ्यात्वी कहलाया)। इसलिये श्रद्धा तो पूर्ण रूपेण शुद्ध होनी चाहिये। यदि कोई बात समझ मे नही आवे, तो अपनी बुद्धि की न्यूनता मानकर **"तमेव सच्चं णिसंकं जं जिणेंहि पवेइयं"**–कहकर श्रद्धा का बल कायम रखना चाहिये। अश्रद्धालु बनकर मिथ्यात्व को नही अपनाना चाहिये।

विश्व-धर्म

प्रश्न–जैनधर्म तो विराट है, विशाल है, विश्वधर्म होने के योग्य है। फिर आप इसे संकुचित दायरे मे क्यो बांध रहे हैं?

उत्तर–हाँ, जैनधर्म विराट है, विशाल है और विश्व-धर्म होने के योग्य भी है। ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा जैनदर्शन, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवलोक तथा लोकान्त मे सिद्धो तक है। देश चारित्र की अपेक्षा पशु, पक्षी आदि संज्ञी तिर्यंचों

मे, और देश तथा सर्वचारित्र की अपेक्षा मनुष्यो मे जैनधर्म है। इतने व्यापक और विशाल क्षेत्र मे जैनधर्म है। यदि सभी मनुष्य इसे अपनाना चाहे, तो गरीब से लेकर अमीर, रंक से लेकर राष्ट्रनायक, और कृषक से लेकर सेनापति तक अपना सकते है। किंतु ऐसा होता नही है। उदयभाव की विचित्रता एवं विविधता के कारण जीवो की परिणति भी विविध प्रकार की होती है, और परिणति की विविधता के कारण रुचि भी भिन्न भिन्न होती है। सारा ससार एक ही धर्म का उपासक और एक ही मत का हो जाय—ऐसा कभी नही हो सकता। जीवो की विविध परिणति, रुचि, मान्यता और आचरण रहता ही है। अतएव धर्म मे योग्यता होते हुए भी जीवो की अयोग्यता—जीवो के उदयभाव की विचित्रता, के कारण सभी मनुष्य एक धर्म के अनुयायी नही बन सकते।

एक मत होने मे किसी एक को अपना स्वरूप, लक्ष्य तथा मत छोडना पडता है। या तो धर्म अपना स्वरूप छोड कर सब की इच्छानुसार बन जाय, या सभी जीव अपना अपना मत छोडकर एक धर्म के अनुयायी बन जायँ। क्या ऐसा हो सकता है? नही, कभी नही। सभी मनुष्यो का एक मत कभी नही हो सकता। एक मत की विभिन्न शाखाएँ भी जब एक नही हो सकती, सम्वत्सरी जैसा छोटा-सा मतभेद भी जैनियो की विभिन्न सम्प्रदायो का नही मिटा, नवीन विशाल बूचडखाने जैसे प्राणी-हत्यालय बंद करवाने मे भी एक प्रात, एक नगर के सभी मनुष्य एक मत नही हो सके, तो ससार के सभी मानव एक धर्म के अनुयायी हो जायँ, यह तो असंभव एवं अशक्य ही है।

गोवध बंदी जैसे सामान्यतम विषय मे भी हिन्दू-कुलोत्पन्न राज्य-मन्त्री अनुकूल नही बनते, जिसके लिए आमरण अनशन करने के लिए सैकड़ो व्यक्ति कमर कस रहे हैं, तब तत्त्वज्ञान के विषय मे एकमत कैसे होगे ?

जब मनुष्य एक मत नही हो सकते, तो शेष रहा धर्म। यदि धर्म का रूप जन रुचि के अनुसार बनाया जाय, तो वह धर्म रहेगा ही कैसे ? सबकी रुचि के अनुसार स्वाग सजनेवाले की स्थिति क्या होती है ? उसका अस्तित्व कैसे कायम रह सकता है ? वह तो फिर अधर्म की प्रचूरता मे ही खो जायगा।

जैनधर्म विशाल अवश्य है, किंतु वह अपने आप मे विशाल होकर भी बहुत ही सिमटा हुआ है। अपने रूप मे वह बहुत ही संक्षिप्त है। वह सर्व व्यापक नही है। सर्व व्यापक है—आश्रव ! आश्रव का क्षेत्र लोक-व्यापी है। पाप, अधर्म एवं बन्ध का क्षेत्र समस्त लोकाकाश है। संवर तो एकदम सिमटा हुआ, थोड़े-से स्थान मे रहा हुआ है। विशालतम भयानक वन के समान आश्रव है। उसमे सवर की सडक तो पतलीसी लकीर के समान बनी हुई है। यद्यपि वह सडक अपने यात्री को एक ओर से छोर तक पहुँचा देती है, तथापि वह लबी होती हुई भी है तो पतली-सी रेखा। उसकी अपेक्षा शेष रहा हुआ वन, कितना विशाल और विशालतम होता है। इसी प्रकार जैनधर्म, मिथ्यात्व से निकल कर सिद्ध स्वरूप तक पहुँचा सकता है, फिर भी उसका मार्ग बहुत ही सिमटा हुआ, पतली-सी सडक के समान है। पाप, अधर्म और आश्रव से अनन्त भाग न्यून। अधर्म का क्षेत्र, धर्म की अपेक्षा अनन्त गुण अधिक रहा है और

रहेगा। अतएव धर्म को सर्व व्यापक बनाने के लिए उसके स्व-रूप को नही बदला जा सकता।

जिस प्रकार ससार मे विभिन्न जाति की वस्तुएँ हैं और प्रत्येक जाति मे भी कई भेद प्रभेद हैं। धान्य मे कोदो भी है और ज्वार, मक्का तथा गेहूँ भी। घोडे की जाति मे २५) ३०) रुपये का टट्टु भी है और सवा लाख का रेस का घोडा भी। रत्न भी विविध प्रकार और मूल्य के होते हैं। बहुमूल्य वस्तु परिमाण में थोडी होती है और कही कही मिलती है। उसका क्षेत्र सीमित रहता है। वह सर्वव्यापक नही हो सकती।इसी प्रकार धर्म के विषय में भी समझना चाहिए।

जिस प्रकार चादी, सोना और हीरो का मूल्य, जन-मत के आधार पर बढाया घटाया नही जा सकता। उनका मूल्य अपने आप की योग्यता से है, उसी प्रकार धर्म का स्वरूप भी अपनी विशेषता के कारण है। धर्म की अपनी तारकता, विशुद्धता, आत्मा को परमात्मा बनाने की रीति व विधि-विधान ही उसकी उपयोगिता बतलाते हैं। यदि ये वस्तुएँ, उसमें से निकल जाय और वह मिट्टी और धूल की तरह सर्व सुलभ बन जाय, तो उसका स्थान ही वैसा हो जायगा। फिर वह माथे से उतर कर पैरो के नीचे आ जायगा।

प्रश्न—जो धर्म, मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी नही होता, वह धर्म ही कैसा? जैनधर्म एक जाति, एक देश और एक रूप मे बँधा रहे, तो वह विश्व-धर्म कैसे हो सकता है?

उत्तर—जैनधर्म तो मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है, चाहिए उसका आराधक। धर्माराधना में जाति, वर्ग और देश

का भेद तो किसी ने भी उपस्थित नही किया। वास्तव में भेद की बात दूसरी ही है। प्रस्तुत प्रश्न के मूल मे विवाद इस बात का है कि एक वर्ग कहता है–'धर्म का रूप ही बदल कर अनुकूलता के अनुसार बनाया जाय', तब दूसरा वर्ग कहता है कि 'धर्म नही बदल सकता। मनुष्य स्वयं बदले और धर्म के अनुरूप बने।' अब समझना यह है कि कौन बदले, धर्म या धर्मी ?

जिस प्रकार प्राकृतिक वस्तुएँ नही पलटती। यदि उन्हे पलटाया जाता है, तो वे उतनी लाभकारी नही रहती, उसी प्रकार धर्म की स्वाभाविक शोधन-शक्ति भी अपने स्वाभाविक रूप मे ही कायम रहती है। उसमे परिवर्त्तन होने पर वह शक्ति नही रहती।

जिस प्रकार सरोवर का निर्मल और शीतल पानी, मनुष्य की प्यास मिटाकर तृप्ति देती है, गन्दला–मिट्टी, कचरा और मूत्रादि मिला हुआ पानी हितकारी नही होता, न नशीली वस्तु मिलाकर भंग और मदिरा बना देने से वह लाभ होता है, उसी प्रकार धर्म को इच्छानुसार बनाने पर वह आत्मशोधक–बन्धच्छेदक धर्म नही रहकर,बन्धन कारक बन जाता है। उसका मूल स्वभाव कायम नही रहता। जबतक उसमे संवर का तत्त्व कायम रहता है, तभी तक वह आत्म-रक्षक रहता है। जहां सवर तत्त्व निकला कि फिर धर्म रहा ही कहां ? सवर का अस्तित्व रखकर कोई भी व्यक्ति, किसी भी जाति, कुल, वर्ग और किसी भी देश का निवासी जैनधर्मी हो सकता है। इसमें

कोई मतभेद नही है।

प्रश्न—जिस प्रकार निर्मल एवं शीतल जल मे बादाम, पिस्ता, दूध और मिश्री आदि मिलाकर अधिक हितकारी बनाया जा सकता है, उसी प्रकार धर्म को भी युगानुसारी मिश्रण से युक्त करके सभी मनुष्यो के लिए उपयोगी क्यो नही बनाया जा सकता ?

उत्तर—बनाया जा सकता है और सदा से बनाते आये हैं। संवर तत्त्व मे निर्जरा की मात्रा बढाते रहने से वह धर्म अधिक हितकारी बन सकता है। पानी के गुणो को सुरक्षित रखते हुए उसमे गुण उत्पन्न करने वाले तत्त्व मिलाने से गुण वृद्धि होती है, उसी प्रकार सवर धर्म को सुरक्षित रखते हुए निर्जरा का उत्तम मिश्रण किया जाय, तो वह अधिक लाभ दायक होता है। भूतकाल मे अनेकानेक भव्यात्माओ ने, गुणरत्न-संवत्सरादि और रत्नावली आदि द्रव्य भाव तप मिलाकर आत्मा की विशेष शुद्धि की है। ऐसा होना तो विशेष लाभ दायक है, फिर भी इसे परिवर्त्तन नही कहते। क्योकि सवर के साथ निर्जरा भी धर्म का ही तत्त्व है। जिस साधना मे संवर का तत्त्व कायम रखकर निर्जरा का जितना अधिक मिश्रण हो वह उतनी अधिक लाभकारी होती है। इसमे कुछ भी परिवर्त्तन नही होता। यह तो जैनधर्म का सदा से चला आ रहा स्वरूप ही है।

परिवर्त्तन तो तब कहा जाय कि जिसमे आश्रव तत्त्व को भी धर्म का रूप दिया जाय। जहाँ आश्रव और बध की

साधना है, वहा जैनधर्म नही है। यदि साधक को जैनधर्म की साधना करनी है, तो उसे सब से पहले मिथ्यात्व और फिर अविरति आश्रव को छोडना होगा और सम्यक्त्व तथा यथा-शक्ति विरति अपनानी होगी। तभी वह आराधक हो सकेगा।

प्यासा व्यक्ति स्वय जलाशय के निकट जाता है और उससे पानी लेकर अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न करता है, किंतु जलाशय स्वयं चलकर प्यासे के पास नही आता। इसी प्रकार धर्मेच्छुक स्वयं धर्म के अनुकूल बनकर उसे स्वीकार कर सकता है, धर्म उसकी इच्छानुसार नही बनता। जो लोग, जन सुविधानुसार धर्म को बदलने का कहते हैं, वे अनभिज्ञ हैं। उनके हाथ धर्म नही, अधर्म ही लगता है।

सोने का महत्व तभी तक है, जबतक कि वह अपने आप मे शुद्ध और निर्मल रहे और सर्वोपयोगी बनने के लिए अपने मे हलके तत्त्व का मिश्रण नही होने दे। यदि उसने हलके तत्त्व का मिश्रण करके अपना केरेट गिराया, तो न तो वह शुद्ध एव असली रह सकेगा और न उसका वह महत्व–मूल्य ही रहेगा। दूसरो की सुविधा के लिए अपना रूप बिगाड कर महत्वहीन बनना तो अपने को ही मिटाना है। यही बात धर्म के विषय में भी है।

आस्था का महत्व

आस्था=श्रद्धा के महत्व पर हम पहले लिख चुके हैं। यहाँ फिर हम उसी विषय की चर्चा कर रहे हैं। सम्यक्त्व के पाँच लक्षणो मे पूर्वाचार्यों ने पहला स्थान 'सम' को दिया है।

पूर्वाचार्यों के विषय वर्णन का क्रम तीन प्रकार का रहा है,- १ पूर्वानुपूर्वी २ पश्चानुपूर्वी और ३ अनानुपूर्वी। कुछ विषयो मे पूर्वानुपूर्वी क्रम रहा है और कुछ मे पश्चानुपूर्वी। गुण वृद्धि की दृष्टि से नमस्कार मन्त्र का साधु-पद ही मूल स्थान है। इसी मे गुण वृद्धि होने पर उपाध्यायादि पद की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार सम्यक्त्व के पांच लक्षणो मे प्राथमिकता, 'आस्तिक्य' गुण की है। यह मूल भूमिका है। इस पर ही अनु-कम्पादि गुण प्रकट होते है। भगवद्वाणी पर श्रद्धा होने पर ही स्थावरादि जीवो की अनुकम्पा होती है और भाव अनुकम्पा की प्राप्ति तो यही होती है। सम्यग्दृष्टि यह विश्वास कर लेता है कि जीव की दयनीय दशा (अनुकम्पा के योग्य दु खी अवस्था) उसके हिंसादि पापो के कारण हुई है। सभी दु खो का मूल मिथ्यात्वादि पापो मे रहा हुआ है। जिस प्रकार वह दूसरे जीवो की दुखी अवस्था देखकर अनुकम्पा करता है, उसी प्रकार वह अपनी आत्मा पर भी अनुकम्पा करता है। उसकी अनुकम्पा, दु.ख के कारणो (१८ पापो) के प्रति निर्वेद और सुख के कारणो (मोक्ष के साधनो) के प्रति संवेग लाती है। निर्वेद और सवेग, जीव मे 'समत्व' उत्पन्न करते हैं। इसलिए आस्तिक्य के बाद अनुकम्पा और उसके बाद निर्वेद मानना उचित है। बिना आस्था के निर्वेद संभव नही है, और बिना निर्वेद के सवेग नही हो सकता। जब संवेग निर्वेद ही नही, तो समत्व की प्राप्ति कैसे होगी ? अतएव पश्चानुपूर्वी ढग से आस्तिक्य को प्राथ-मिकता देना ही उचित होगा। परमतारक प्रभु महावीर के

धर्मोपदेश मे भी सबसे पहले आस्तिक्य पर जोर दिया है, जैसे कि–'अत्थिलोए....... आदि (उववाई) श्रद्धा को परम दुर्लभ मानना (उत्त० ३) भी आस्तिक्य के महत्व को सिद्ध करता है। जितना पराक्रम जीव को आस्तिक बनने और बने रहने में लगाना पड़ता है, उतना और किसी मे नही लगाना पड़ता।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अस्थिरता

सम्यक्त्व तीन भावो मे होती है,–१ औपशमिक २ क्षायिक और ३ क्षायोपशमिक। औपशमिक सम्यक्त्व किसी भी जीव को पाँच बार से अधिक प्राप्त नही होती और क्षायिक सम्यक्त्व तो एक बार ही प्राप्त होती है। औपशमिक सम्यक्त्व तो अवश्य ही नष्ट होती है और क्षायिक अमर है। यह आने के बाद स्थिर ही रहती है। उपशम मे मिथ्यात्व के बीज सुरक्षित रहते हैं, परन्तु क्षायक मे तो समूल नष्ट हो जाते है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की दशा विचित्र होती है। यह एक भव मे उत्कृष्ट हजारो बार (६ हजार बार तक) आ जा सकती है। और इसका विस्तार भी संसारी जीवो मे सर्वाधिक होता है। औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व वाले ससारी जीवो से, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी असंख्यगुण अधिक होते है। इस सम्यक्त्व के स्वामी श्रीगौतमस्वामीजी महाराज जैसे भी होते हैं, जो गुण-वृद्धि के द्वारा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते है, और ऐसे जीव भी होते है–जो ६६ सागरोपम से अधिक काल तक कायम रखकर मुक्त होते हैं, किंतु इसके विपरीत ऐसे जीव भी होते

है, जो प्राप्ति के बाद थोडे ही समय मे (अन्तर्मुहूर्त मे) ही गँवा देते है। इस सम्यक्त्व वालो मे से अधिक सख्या ऐसे जीवो की होती है, जो स्थिरता के अभाव में मिथ्यात्व के झपेटे मे आ जाते है। जो स्थिरता क्षायिक सम्यक्त्व मे है, वह क्षायोपशमिक में नही है। क्षायक सम्यक्त्वी सर्वथा निर्भीक होता है। संसार की कोई भी शक्ति उस अजेय आत्मा को प्रभावित नही कर सकती। किंतु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के लिए खतरे के स्थान अनेक हैं। परिस्थिति से प्रभावित होकर मिथ्यात्व की प्राप्ति उसमे संभव हो जाती है। जिस प्रकार कमजोर और बीमारी के अंशवाले व्यक्ति पर छूत रोग (ससर्ग से उत्पन्न होने वाले रोग) शीघ्र असर कर जाते हैं, उसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले जीवो पर मिथ्यात्व का असर शीघ्र हो सकता है, क्योकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी आत्मा मे दर्शन-मोहनीय कर्म के दलिक मौजूद रहते है। जिस भव्य आत्मा मे क्षयोपशम की तीव्रता अथवा तीव्रतमता होती है, वह तो मिथ्यात्व के झपेटे से—क्षायिक सम्यक्त्वी की तरह, बच जाता है। उसके वे दलिक नष्ट हो जाते है। किंतु जिनका क्षयोपशम मन्द होता है, वे आक्रमण के शिकार हो जाते हैं और मिथ्यात्व के भयंकर जाल मे फँसकर दु खी हो जाते है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीवो मे से ही दर्शन भ्रष्ट होते हैं, क्योकि इसमे हायमान परिणाम वाले अधिक होते हैं और भय के स्थान भी इसीके लिए है। औपशमिक सम्यक्त्व के लिए तो पतन का एक आतरिक कारण ही होता है, किंतु क्षयोप-

शम की मन्दतावाले सम्यक्त्वी जीवो मे तो उपादान और निमित्त भी जोरदार असर कर जाते हैं। जमाली और उसके अनेक साथियो तथा महासती सुदर्शना के मिथ्यात्व को उदित होते, स्वय भगवान् महावीर जैसे उत्कृष्टतम निमित्त भी नही रोक सके, और बिछौने जैसा सामान्य निमित्त भी जमाली आदि श्रमण श्रमणियो के मिथ्यात्वोदय का कारण बन गया। भगवान् महावीर के समीप रहते हुए भी श्री मेघ मुनि का मन्द क्षयोपशम, दर्शन-मोह के उदय के आगे टिक नही सका और मिथ्यात्व आ धमका। मन्द क्षयोपशम वाले जीवो की ऐसी दशा हो जाती है। इसीलिए महान् उपकारी जिनेश्वर भगवतो ने हमे सावधान रहने का उपदेश यिया है। हमे चाहिए कि उन परमोपकारी जिनेश्वरो के वचनो पर विश्वास करके उन दोष के स्थानो से बचते रहे।

खतरे के स्थान

हमने यह तो मान लिया कि जिसके हृदय मे निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति दृढ श्रद्धा है, वह सम्यग्दृष्टि है। किंतु निर्ग्रन्थ प्रवचन' किसे समझना ? कौन-सी बात निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुकूल है और कौन-सी प्रतिकूल है ? जब हम एक ही परम्परा के मानने वालो मे परस्पर मत-भेद देखते है—तत्त्व विषयक विभिन्न विचार देखते है तो मति कुंठित हो जाती है। ऐसे समय हम किस मार्ग को अपनावे ? किस कसौटी पर कस कर यह परीक्षा करे कि 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' क्या है ?

प्रश्न उचित एवं सामयिक है। भगवान् महावीर और निर्ग्रन्थ-प्रवचन के नाम पर गलत प्रचार भी हुआ है और हो रहा है। कोई लिखता है—'भगवान् ने सर्व-धर्म समभाव का उपदेश दिया,' तो कोई कहता है कि 'अछुतोद्धार ही परम धर्म है।' एक महात्मा फरमाते है कि 'जगत् की भावनाओ के आधीन बनना सबसे उत्तम धर्म है', तो दूसरे उपदेश करते है कि 'तर्क की कसौटी पर खरा उतरे उसी को धर्म मानना चाहिए,इसके अतिरिक्त सभी सिद्धात त्यागने योग्य है।' इस प्रकार अनेक विचार प्रचारित होते हैं और ये सब भगवान् के नाम पर होते हैं। इनसे साधारण उपासको का भटक जाना स्वाभाविक है। यदि ऐसे विचारो का प्रचारक, गुरु पद पर हो और विशेष पढा लिखा हो, तो वह बडी चतुराई से, सरलतापूर्वक लोगो के गले मे अपने विचार उतार सकता है। यह खतरा अपने जैसो से ही अधिक होता है। दूसरे लोग तो पहले से—'पर' कहलाते है। इसलिए उनकी बात पर हमारा विश्वास प्राय नही होता। किंतु अपने होकर जो कुछ कहते है, उन पर सामान्य उपासक तो विश्वास करेगा ही। क्योकि वह मानता है कि 'ये अपने है, विद्वान है, ये जो कुछ कहते हैं, वह सत्य ही है।' इस प्रकार मानकर वह खरे के भरोसे खोटा भी अपना लेता है। इस प्रकार के परिवर्तको में "अभिनिवेश" की मात्रा अधिक होती है। उनकी धुन यही है कि 'किसी प्रकार मेरी बात सर्वोपरि रहे। इसके लिए वे कदाग्रह मे पड़ जाते हैं, विभेद बढाते हैं और स्व-पर का अहित कर डालते हैं, परन्तु अपने हठ को

नही छोडते । किंतु जिन धर्म-बन्धुओ का निर्ग्रन्थ-प्रवचन से सतत परिचय रहता है, जिन्होने निर्ग्रन्थ-प्रवचन के उद्देश्य और आदेश को समझ लिया है, वे इस प्रकार के भुलावे मे नही आते । उनके पास निर्ग्रन्थ-प्रवचन को समझने की कसौटी है। वे असली और नकली का भेद सरलता से जान लेते हैं ।

उनका दृढ विश्वास है कि निर्ग्रन्थ-प्रवचन का उद्देश्य निराबाध एव शाश्वत शाति रूप मोक्ष प्राप्त करना है । और उपाय है-संवर और निर्जरा । इन्हे अपना कर लक्ष्य को प्राप्त करना । आस्रव हेय और संवर उपादेय है । संयोग सम्बन्ध हेय और असगता-नि संगता उपादेय है । सासारिक प्रवृत्ति हेय और सयम तथा ज्ञानादि मे प्रवृत्ति उपादेय है । इस प्रकार निर्ग्रन्थ धर्म के उद्देश्य और उपाय को समझनेवाला किसी भी खतरे मे नही पडता । वह समझ लेता है कि असल क्या है और नकल क्या है ? किंतु जो भोले-भाले और केवल व्यक्ति विश्वास पर ही रहने वाले हैं, उनके लिये ऐसे लोग खतरनाक होते हैं। यह खतरा, सामान्य व्यक्ति से नही, किंतु विशेष व्यक्ति से होता है । जिनका प्रभाव हजारो पर पडता है, उन्ही मे से अभिनिवेश के स्वामी अधिक होते है । अतएव निर्ग्रन्थ प्रवचन के मर्म को जानकर, ऐसे खतरो से बचकर, सम्यक्त्व को सुरक्षित रखना चाहिये ।

दूषण-१ शंका

सम्यक्त्व को मलीन अथवा नष्ट करने वाले कारण ये हैं ।

१ शंका–जिनेश्वरो के वचनो मे शका करना, अनन्त ज्ञानियो एवं आगमकारो के वचनो और उसमे रहे हुए आशय को नही समझकर उनकी सत्यता मे सन्देह करना–खतरे का प्रथम स्थान है। समझने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है–उपादेय है। प्रत्येक वस्तु को हृदयंगम करने के लिए विशेषज्ञो को पूछना तो स्वाध्याय नाम के तप का 'पृच्छा' नामक दूसरा भेद है–गुण है, दोष नही है। किंतु उसकी सत्यता के प्रति सन्देह लाना–'शंका' नाम का दोष है। यह दोप यदि आत्मा मे घर कर जाय, तो सम्यक्त्व नाशक बन जाता है।

संसार मे ऐसी अदृश्य वस्तुएँ अनन्त हैं कि जिनका प्रत्यक्ष हमारे जैसे व्यक्ति नही कर सकते। उनके अस्तित्व एवं स्वरूपादि का ज्ञान, आप्त वचनो से ही होता है। यदि हम उन वचनो पर विश्वास नही करे और अप्रत्यक्ष वस्तुओ पर अविश्वास करे, तो नास्तिकता ही हाथ लगेगी।

अप्रत्यक्ष तो दूर रहे, हम प्रत्यक्ष वस्तु को भी पूर्ण रूप से नही जान सकते,उन्हे दूसरे अनुभवियो के वचनो पर विश्वास करके उपभोग मे लाते है। हम अपने शरीर के रोग को दूर करने के लिए वैद्य अथवा डॉक्टर की दी हुई दवाई को विश्वास पूर्वक गले उतार लेते हैं। दवा की शीशी हमारे हाथ मे होते हुए भी हम नही जान सकते कि इसमे क्या है,–दवा है या विष, या कोरा पानी ही है। अपने हाथ मे रही हुई वस्तु मे भी प्रत्यक्ष कम और प्रच्छन्न अधिक होता है। अच्छे अनुभवी डॉक्टर के हाथ मे एक दवाई की गोली या टिकिया रख दीजिए और

पूछिए कि इसमे क्या क्या गुण है और किन किन वस्तुओ से बनी है ? वह अनुभवी डॉक्टर, दवा की गोली को प्रत्यक्ष देखते हुए भी कुछ नही बता सकेगा। वह उसके विवरण को पढ़ कर भी किसी खास गुण को ही बता सकेगा। जब हमारे हाथ मे रही हुई वस्तु को भी (जिसे हम देख रहे हैं) पूर्ण रूप से नही जान सकते, तो परोक्ष वस्तु को कैसे जान सकते है ? इस विषय मे अनुभवियो पर विश्वास करना ही पडेगा। प्रत्येक विषय मे अपनी बुद्धि से तोल कर ही मानने का आग्रह करने वाले और जिन वचनो मे शंका अथवा अविश्वास करने वाले लोग, सम्यक्त्व की सीमा से एकदम बाहर हैं।

एक 'जैन पंडित' कहलाने वाले महाशय ने 'श्रमण' अगस्त ५२ के पृ० ६ मे "क्या मैं जैन हूँ ?" शीर्षक लेख मे अपनी नास्तिकता स्वीकार करते हुए लिखा कि—

"आस्तिक बनने की सब से बडी योग्यता यही मानी जाती है कि व्यक्ति धार्मिक और दार्शनिक मामलो में स्वयं कुछ न सोचे। दूसरे महान् समझे जाने वाले व्यक्ति ने उसके लिए सब कुछ सोच कर रख दिया है। अतएव स्वयं कुछ सोचने की आवश्यकता नही—यह बात मैं नही मानता, इसलिए भी मुझे लोग नास्तिक समझते हैं।"

यह लिखना तो साफ झूठ है कि—"धार्मिक और दार्शनिक विषयो मे कुछ सोचना ही नही—यह आस्तिकता की सबसे बडी शर्त है।" क्योकि जैन धर्म ने स्वाध्याय के दूसरे भेद मे 'पृच्छा' और चौथे भेद मे 'अनुप्रेक्षा' को स्वीकार किया है।

हा अपने ही तर्क को पकडकर अश्रद्धालु नही बनना, यही हित-कर है।

जिस वस्तु को पंडितजी नही मानते और नास्तिक बनते है, किंतु उसी बात को सारी दुनिया मान रही है। खुद भी यदि अपने अध्यापक पर विश्वास नही करते और स्वय सोच विचार करते रहते कि "अध्यापकजी मुझे जो कुछ पढा रहे हैं, वह सही पढा रहे है, या गलत ? मैं स्वयं जबतक इसकी परीक्षा नही करलूँ तब तक पढ़ूँ ही नही", तो वे पंडित नही बन सकते थे। हम अन्यत्र तो छद्मस्थो पर विश्वास करलेगे, किंतु दर्शन और धर्म के मामले मे किसी पर विश्वास नही करेगे। इसका कारण यही है कि कुश्रद्धा के चक्कर मे पड कर नास्तिक बन गये है। उन्होने आगे यह भी लिखा है कि—

"नास्तिक शब्द की एक सर्वसम्मत व्याख्या यह भी है कि जो आत्मा और परलोक को न माने। मै अपनी तुच्छ बुद्धि से अभी तक इस विषय मे सदेह ही करता हूँ।" आगे लिखा कि—

"मुझे आत्मा या परलोक का साक्षात्कार है ऐसा मैं नही मानता और जबतक ऐसा साक्षात्कार नही होता, तबतक आस्तिक की अपेक्षा नास्तिक बना रहना ही अच्छा समझता हूँ।"

आत्मा और परलोक के विषय मे पडितजी को कभी साक्षात्कार हो जाय—यह असभव ही लगता है। आत्मा को तो वे देख सकते नही, क्योकि वह अरूपी है, और परलोक का साक्षात्कार करेगें जब की बात है, क्योकि वह इस जिन्दगी मे संभव नही है। इस प्रकार वे जीवन भर नास्तिक ही बने

रहेगे । इस प्रकार जीव सदेहशील बन कर सम्यक्त्व से वचित रह जाता है, या भ्रष्ट हो जाता है ।

साधुओ मे शंका के बीज बोने वाले उनके गृहस्थ अध्यापक भी हैं। इस प्रकार के खतरे जैन नामधारी पडितो से अधिक हुए है। कई वर्ष पूर्व की बात है। मारवाड मे एक मुनिजी ने जिक्र किया था,–

"मुझे एक.....जैन पडित पढा रहे थे। उन्होने एक दिन जैन सूत्रो की आलोचना करते हुए कहा था कि–सूयगडांग में मेरु पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन की लिखी है, जिसमे से एक हजार योजन जमीन के भीतर और शेष ९९००० ऊपर है और वह शाश्वत है। इधर जब हम प्रत्यक्ष मे देख रहे हैं कि किसी मकान की दिवाल बनाई जाती है, तो उसकी नीव, ऊपर की दिवाल से चौथे हिस्से मे तो रखी ही जाती है, तब भी वह सौ दोसौ वर्षो मे ही गिर पडती है। फिर ऊपर की अपेक्षा सौवे हिस्से मे हो जो वस्तु जमीन में हो, वह ठहर भी नही सकती, तो शाश्वत तो हो ही कैसे सकती है?"

जैन पडितजी ने शका का शूल विद्यार्थी मुनि के हृदय मे चुभा दिया और विद्यार्थी तो विद्यार्थी ही ठहरे। गुरु पर विश्वास करना विद्यार्थी का साधारण कर्त्तव्य होता है और ऐसे शूल, सरलता से हृदय मे पैठ जाते हैं। सुनने के साथ मुझे भी विचार हुआ, किंतु सद्भाग्य से मुझे उसका मर्म समझ मे आ गया। मैंने मुनिजी से कहा कि–"जो वस्तु नीचे से बहुत लम्बी चौड़ी हो और ऊपर उसकी गोलाई क्रमश. कम होती

गई हो, तो ऐसी वस्तु तो बिना नीव के भी जमीन पर ठहर सकती है, जैसे ग्रामोफोन का ओधा रखा हुआ भोगरा । मेरु पर्वत, पृथ्वी के भीतर १००९०१०/११ योजन चौडा है और पृथ्वी पर १०००० योजन चौडा, फिर क्रमश कम होते होते शिखर पर एक हजार योजन चौडा रह गया है । इस प्रकार की वस्तु के डिगने, या गिरने की शका ही कैसे हो सकती है ?"

इन्ही पडितजी ने एक दूसरे मुनिजी को 'पासत्थ' विशेषण (जो शिथिलाचारी साधु का है) को भ० महावीर की परम्परा की ओर से, भ० पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओ के प्रति व्यगात्मक बताकर इसका ऐतिहासिक महत्व बताया था । इसके बाद इस विषय मे 'श्रमण' के मई ५४ के अंक मे लेख भी निकला था । जिसकी आलोचना स० द० सेप्टेम्बर ५४ के अंक मे हुई है । अब कई पंडित साधु स्वयं इस दोष को बढा रहे है । कोई अपनी मिथ्या मान्यता को प्रचारित करने के लिए, और कोई अपनी ढिलाई को छुपाने के लिए,सूत्र सम्मत विधि-विधानो के प्रति शंका फैलाकर इस दोष को बढा रहे है ।

धर्मास्ति, अधर्मास्ति, अलोक, स्वर्ग,नरक,परमाणु आदि आदि किसने देखे ? कौन अपने जीवन मे साक्षात्कार करता है ? जो साक्षात्कार का हठ पकड़े बैठे हैं, वे यो ही रह जायेंगे ।

जिस प्रकार चोरी, जारी, मानव-हत्या आदि अपराधो का दण्ड स्थानान्तर(कारागृह)मे भुगता जाता है, और अमीर लोग गर्मी के दिनो मे शिमला मसूरी आदि जाकर आराम का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार महान् अपराधो की सजा

भुगतने के लिए नर्क और सद्कार्यों–पुण्य कर्मों का सुखरूप फल पाने के लिए स्वर्ग है, किंतु यह बात तर्क परम्परा मे उलझनेवालो के समझ मे नही आती। वे तो शकाशील रहकर नास्तिकता के पात्र ही रहेगे।

संसार मे जितने भी मत-मतान्तर हैं, उन सब के अपने अपने सिद्धात है, और उनके अनुयायी तदनुसार मानते है, तभी वे उस मत के अनुयायी कहलाते हैं। उसी प्रकार जैनसिद्धात को माननेवाला ही जैन कहा जा सकता है। जैनसिद्धात मे सम्यग्-दृष्टि की जो परिभाषा की गई और जो नियम स्वीकार किये गये, तदनुसार माननेवाले ही जैनी या सम्यग्दृष्टि हो सकते है। इसके विपरीत विचारवाले और उन सिद्धातो को दूषित करनेवाले तथा उनके विपरीत प्रचार करने वाले जैनी नही, सम्यग्दृष्टि नही, किंतु अजैन एवं मिथ्यादृष्टि ही हैं। धार्मिक विषयो मे व्यक्ति के स्वतन्त्र विचारो का कोई महत्व नही है, फिर वह कितना ही उच्च विद्वान् क्यो न हो। यदि व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार ही दर्शन का रूप बनता जाय, तो यह मात्र विडम्बना ही है। उस दर्शन का नाश ही समझिए। फिर-जितने व्यक्ति उतने दर्शन। इस प्रकार के प्रयत्न, सम्यक् श्रद्धान को नष्ट करने वाले हैं। शंका रूपी राक्षसी से ही मत-विभिन्नता बढकर उन्मार्ग की प्रवृत्ति होती है।

शंका के कई रूप होते हैं। देश-शंका और सर्वशंका। इन दो भेदो में सभी प्रकार की शंकाओ का समावेश हो जाता है। आज कल के पडितो मे सर्वशंका का प्राबल्य दिखाई देता

है। और तो अलग रहे, हमारी कॉन्फरन्स के नेता और 'जैन प्रकाश' स्वय जैन मान्यता के विपरीत प्रचार कर रहे हैं। जैनदर्शन के लिए यह महान् विपत्ति काल है। रक्षक के रूप मे भक्षक इसमे मौजूद है। शकारूपी राक्षसी विराट रूप धारण करके जैनदर्शन को निगल जाने का प्रयत्न कर रही है। कई विद्वान कहे जानेवाले मुनि, मिथ्यात्व की झपट मे आकर सम्यक्त्व से खिसक गये। इस महान् खतरे से जो सावधान रहकर **"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"**—इस प्रकार दृढ श्रद्धान रखेगे, वे ही इस दूषण से वचित रहकर सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सकेगे।

२ कांक्षा

जिसके हृदय मे श्रद्धा की जडे मजबूत नही होती, वह सोचता रहता है कि 'यह अच्छा या वह अच्छा'। व्यक्ति विशेष अथवा किसी भौतिक विशेषता से आकर्षित होकर पर-दर्शन को अपनाने की इच्छा करना—'काक्षा' दोष है। यह दोष भी कमजोर नही है। ढीली श्रद्धावाले लोगो के सामने जब किसी अजैन विशिष्ठ व्यक्ति का आदर्श उपस्थित होता है, तब वह सोचता है कि—"देखो ! अमुक महात्मा कितना त्यागी है। देश हित के लिए उन्होने कितने कष्ट सहे। परोपकार के लिए उन्होने अपना सारा जीवन लगा दिया। उनमे सादगी कितनी अधिक है।' इत्यादि इस प्रकार के विचारो से वे दूसरो की ओर आकर्षित हो ही जाते हैं। दूसरी ओर हमारे कुछ पठित

साधु भी अपने विचारो और कार्यो से भोले लोगो को जैनत्व से गिराने के प्रयत्न करते रहते हैं। अभी अभी एक महाराज, सर्वोदय केन्द्र का निरीक्षण करने पधारे थे। कुछ संत महात्मा गाँधीजी के प्रशसक रहे है, कुछ श्री विनोबाजी, नेहरुजी आदि के। इस प्रकार के निमित्तो को पा कर 'काक्षा' का उदय होना सरल हो जाता है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय, तो जैन धर्म सभी प्रकार की उत्तमता का भाजन है। जो त्याग, तप और पवित्रता, निर्ग्रन्थ धर्म है, वह अन्यत्र कहाँ मिलेगा? दाँत कुरेदने के लिए तृण जैसी तुच्छ वस्तु भी जो बिना दिये नही लेते, जो नियम के इतने पाबन्द होते हैं कि प्राण दे दें, पर अपने स्वीकृत नियम को नही छोडे। मौत मंजूर पर सचित्त पानी (प्राण बचाने के लिए भी) पीना मन्जूर नही। रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग। एक कौडी भी पास मे नही रखने वाले। उनके पेट भरने के नियम इतने उच्च कि उसकी बराबरी कोई भी दूसरी विचारधारा नही कर सकती। जो खुद संसार की आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त हैं और दूसरो को मुक्त करने मे प्रयत्यशील हैं, जो संसार को स्थायी (शाश्वत) सुख का मार्ग दिखा कर वास्तविक हित करते है, ऐसे निर्ग्रन्थो की बराबरी संसार का कौन सत कर सकता है? कहाँ है, इतना निरवद्य, निर्दोष और पवित्र जीवन? किंतु एक ओर कई निर्ग्रन्थो की ढिलाई तथा सुखशीलियापन और दूसरी ओर अजैन नेताओ का प्रामाणिक जीवन। इसका भौतिक दृष्टि से मिलान करके लोग अदूरदर्शिता के चलते 'काक्षामोह' मे फँस कर

सम्यक्त्व गवाँ बैठते हैं। अभी विश्वप्रेम और जनहित के बहाने श्री डुगरसिहजी व नेमीचन्दजी म० इसके झपाटे मे आकर मिथ्यात्व के चगुल मे फँस ही चुके हैं। धन्य है वे श्रावक जो मरणान्तक भय सामने मौजूद रहते हुए भी काक्षा के स्पर्श से दूर रहे।

अभी अभी लाखो अछूत लोग, बौद्ध-धर्मी बने हैं। 'नवभारत टाइम्स' मे उनके विषय मे लिखा था कि "ऐसे बौद्ध बने हुए परिगणित जातियो के लोगो के सामने एक समस्या उपस्थित हो गई है। सरकार से उन्हे परिगणित जाति होने के कारण जो विशेष सुविधाएँ और सहायता मिलती थी, वह बौद्ध हो जाने पर बन्द हो गई। इससे उन लोगो के सामने यह समस्या उठ खडी हुई कि वे अब क्या करे? बौद्ध ही रहे, या पुन पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जायँ? उनके सामने साँप छछुन्दर वाली स्थिति है। इस प्रकार किसी आकाँक्षा अथवा लालसा से धर्म को छोडने या दूसरे पथ को ग्रहण करने वाले अवसरवादी होते हैं। वास्तविक अनुयायी नही होते।

३ विचिकित्सा

तीसरा दोष 'विचिकित्सा' के रूप मे उपस्थित होता है। 'किसे मालूम इस तपस्या, विरति और कायक्लेश का फल होगा या नही?' कुछ लोग, कुश्रद्धा के चलते निर्ग्रन्थो के प्रतिलेखन, प्रमार्जन, प्रतिक्रमणादि को और उपवासादि को देख कर उन्हे 'क्रियाजड़' कह कर घृणा करते हैं। उनकी दृष्टि मे

'परोपकार—लोक-सेवा' ही धर्म है। संवर, निर्जरा की साधना मे उनका विश्वास ही नही। वे इसे व्यर्थ मानते हैं। उनकी दृष्टि मे ये सब निष्फल है, तभी तो वे कहते हैं कि—"जैन साधु जितना जनता से लेते हैं, उतना देते भी हैं या नही ?" इस प्रकार वे अपने आहारादि का मोल करके बदले मे उनसे सेवा लेने की भावना रखते है। कई लोग श्रमणो को गृहस्थो पर भारभूत मानकर उनको देश के उपयोग मे आने की सलाह देते है। तात्पर्य यह है कि श्रमणो की साधना—संयम, तप, स्वाध्या-यादि को वे निष्फल मानते हैं। विचिकित्सा तो फल मे होने वाले सन्देह को बतलाती है, परन्तु ऐसे लोगो मे तो सन्देह की सीमा तोड कर मिथ्यात्व घुस गया है।

पंडित सुखलालजी, म० गांधीजी का आदर्श बता कर जैन श्रमणो को जीवन निर्वाह के लिए 'श्रम करने'=स्वावलम्बी बनने की सलाह देते हैं। उनके शिष्य पडित मालवणिया, भिक्षाचरी को"श्रमिको के रक्तपान के समान" बतलाते हैं। इस प्रकार कई तरीको से भोली जनता मे करणी के फल के प्रति सदेह घुसाया जाता है। जो साधु,संवर निर्जरा के पालक कहाते हुए भी—मारवाड के रेगिस्तान को हराभरा बनाने और महलो को झोपडी की बराबरी मे लाने की उत्सुकता व्यक्त करते हैं, उनमे संवर, निर्जरा की करणी मे विश्वास कहां ? यदि विश्वास होता, तो उस उत्तम साधना के विपरीत प्रचार करते ?

सन्देह रहने तक वह दोष कहा जाता है, किंतु जहाँ सन्देह आगे बढ कर विश्वास मे परिणत हो जाता है और खुले

आम प्रचार होता है वहाँ तो अनाचार ही मानना पड़ेगा।

४ परपाषंडी प्रशंसा

मिथ्यामति एव मोक्षमार्ग के विपरीत प्रचारको की प्रशंसा करना भी जिनधर्म के लिए हानिकारक हो जाता है। कोई कोई अजैन, अपने जप, तप, साधना और प्रभाव मे, सामान्य मनुष्यो से कुछ अधिक विशेषतावाले होते हैं। पुण्य प्रकृतियो के उदय से उनकी प्रख्याति भी खूब होती है। वे लाखो करोडो के लिए वंदनीय हो जाते है। उनके द्वारा जनता की राजकीय अथवा सामाजिक कठिनाइये दूर होती है, वे लोगो की पौद्गलिक सुविधाओ के लिए प्रयत्नशील बने रहते हैं, उनके जीवन का अधिकाश भाग जनता की सेवा मे जाता है, उन के वचन प्रभावशाली होते है। इस प्रकार के विशेप व्यक्तियो से प्रभावित होनेवाले लोग, उनकी प्रशंसा करते हैं। उस प्रशंसा से प्रभावित होकर कई जैनी भी अपने धर्म के प्रति अश्रद्धालु होकर उनके और उनके सिद्धात के प्रति श्रद्धालु बन जाते हैं। जो लोग, धर्म के तत्त्वो को बराबर जानते नही, या वंश परम्परा से जैनी बने हुए है, या व्यक्ति विशेष के कारण जैन धर्म से सम्बन्धित हैं, ऐसे अनभिज्ञ व्यक्तियो पर दूसरो का प्रभाव पडना सरल होजाता है। जैनियो मे भैरू, भवानी, चण्डी, मुण्डी आदि को मानने पूजने का रिवाज चालू होने मे एक कारण, परपाषण्डी-प्रशसा का भी हुआ है। उन मिथ्या देवो की प्रशसा सुनकर जिन-भक्त अथवा जैन मानेजाने वाले लोग भी

तेल सिन्दूर लगे भैरूँ, भवानी को पूजने लगे। दरगाह और मजार पर माथा रगडने लगे।

परपाषडी-प्रशसा को "दर्शन भेदिनी विकथा" भी कहते हैं। स्थानागसूत्र स्थान ७ की सात विकथा मे छठी '**दंसण-भेयणी**' कथा है। इसका अर्थ करते हुए श्री अभयदेवाचार्य ने लिखा है कि **"दर्शनभेदिनी—ज्ञानाद्यतिशयितकुतीर्थिक प्रशंसादिरूपा:'**। कुतीर्थियो की प्रशसा करने से साधारण लोगो का उनकी ओर आकर्षण होता है और उनमे से कई ऐसे भी होते हैं जो जिन-धर्म को छोडकर उन कुतीर्थियो के अनुयायी बन जाते हैं। इस प्रकार परपाषडी प्रशंसा से सम्यग्दर्शन का घात होता है।

कभी ऐसा भी होता है कि जब जैन-धर्म मे कोई प्रभावशाली युग-प्रधान व्यक्ति नही हो, और अजैन मत मे युग-पुरुष हो, तब उनके प्रभाव से अधिक जनता प्रभावित हो जाती है। यह कोई अनहोनी बात नही है। सौभाग्य, शुभ, पराघात, आदेय और यशोकीर्ति आदि शुभनाम कर्म का उदय मिथ्या-दृष्टियो के भी होता है। इससे वे प्रशसनीय बन जाते हैं। उनकी दृष्टि असम्यग् एव अप्रशस्त होते हुए भी, उनकी चर्या प्रशस्त भी होती है। उनका रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार और जीवनचर्या लौकिकदृष्टि से अनुकरणीय होती है। उनके वचनो का प्रभाव पडता है, इसलिए दूसरे मतावलम्बी भी उनकी प्रशंसा करते हैं। विरोधी पक्ष भी उनका आदर सत्कार करता है। यदि ऐसे व्यक्ति का कोई विरोध करता है,

तो विरोधी सच्चा और खरा होते हुए भी उसका विरोध प्रभावजनक नही होता, क्योकि उसकी पुण्य प्रकृतियो का प्रभाव उसकी बुराई को भी दबा देता है। महात्माजी की वत्स-घात आदि प्रवृत्ति का हिन्दुओ और जैनो ने खूब विरोध किया, किंतु उनके शुभोदय के आगे विरोध का कोई खास प्रभाव नही पडा। इतना ही नही अनेक जैनी, अपनी श्रद्धान् से खिसक कर उनके अनुयायी बन गये। जैनियो के इस प्रकार के परिवर्तन मे कोई कोई साधु साध्वी भी कारणभूत बने। उन्होने गाँधीजी को भगवान् महावीर के समकक्ष बिठाने तक की मिथ्या चेष्टा की। इस प्रकार की 'दर्शन-भेदिनी विकथा' से अनेक अज्ञानी भोले जीवो के सम्यग्दर्शन का घात हुआ।

'परपाषडियो की प्रशंसा नही करना'—इस के विपरीत कोई कोई कहते है कि 'सद्गुणो की प्रशसा करने मे क्या दोष है ? गुणो की प्रशसा तो होनी ही चाहिये, फिर वह किसी के भी क्यो न हो।' इस प्रकार कहनेवाले को समझना चाहिये कि गुणो की प्रशंसा करनेवाले यदि उस व्यक्ति मे रहे हुए दोष नही बता सके, तो भोले लोग, गुण के साथ दोष भी ग्रहण कर लेगे और उसमे आपकी प्रशसा कारण बन जायगी। एक व्यक्ति मे दो गुण और दो अवगुण है। आपने दो गुणो की तो खूब प्रशसा करदी, किंतु दोष का सामान्य दर्शन भी नही कराया। आपकी प्रशंसा से, आप पर विश्वास रखनेवालो ने उस व्यक्ति पर श्रद्धा करली, और उसके गुण के साथ दोषो को भी अपना लिया। आपकी प्रशसा उसके दोष ग्रहण मे भी कारणभूत बनी।

ıकार 'परपाषंडी-प्रशसा का खतरा भी सम्यक्त्व के लिए
ក है।

'दर्शन विघातिनी' कथा करने वाले—दूसरो के अतिरिक्त
कहलानेवाले भी होते हैं। परपाषण्डी-प्रशसा' का दोष
कहानेवालो (सम्यक्त्वी) को ही लगता है, दूसरो को
। क्योकि दूसरे तो सम्यक्त्वी है भी नही और यह दोष तो
क्त्व का है। जैनी, सम्यग्दृष्टि और जैन श्रमण—गुरुस्था-
कहानेवाले—जिनके सिर पर जैनत्व के प्रचार का, सम्य-
के पोषण का भार है, वे ही यदि 'परपाषण्डी-प्रशसा' कर
र्शन घातक बने, तो यह रक्षक ही भक्षक बनने के समान है।
बुद्ध, गाँधी, विनोबा, तुकडोजी आदि की प्रशसा करके
ी ओर आकर्षित करनेवाले कोई कोई साधु भी हैं, समाज
ग्रसर भी है और पत्र भी है। जितनी हानि घर के अपने
नेवालो से होती है, उतनी दूसरो से नही। यदि भीषणजी,
जी आदि दूसरे मतो के होते, तो उनसे इतनी हानि नही
। अपने बनकर ही उन्होने जैनियो की श्रद्धा बिगाड़ी है।
प्रकार 'परपाषण्डी प्रशसा' के खतरे से पूर्ण सावधान रहना
ाश्यक है।

इस भेद मे हमे उस साहित्य को भी स्थान देना है,
मिथ्यात्व वर्द्धक है। ऐसे साहित्य की प्रशसा से लोगो मे
के प्रति आकर्षण बढ़ता है और उसे अपनाने की प्रवृत्ति
ी है। यह प्रवृत्ति उनके लिए दर्शन-घातक बन जाती है।
मिक ज्ञान की परिपक्वता के बिना ही लौकिक विद्या और

उसके अभ्यास से प्राप्त होने वाली 'साहित्यरत्नादि' पदवियो से ललचाकर, शुद्ध श्रद्धान को गँवा बैठते हैं। इसका कारण उस विद्या की प्रशसा है। जिस प्रकार विषय विकार की प्रशसा, भोगरुचि उत्पन्न करके चारित्र का घात कर देती है,जिस प्रकार 'चारित्र भेदनी कथा' को भी विकथा कहकर, ऐसी कथा का निषेध किया है, उसी प्रकार 'परपाषण्डी' तथा 'परपाषण्ड प्रवर्तक साहित्य' और पौद्गलिक दृष्टि को बढानेवाले शास्त्रादि की प्रशसा का भी त्याग होना चाहिये। तात्पर्य यह कि परपाषण्डी, परपाषण्ड और ऐसे साहित्य की प्रशसा करना भी सम्यक्त्व के लिए खतरे का कारण हो सकता है। इस खतरे से सम्यक्त्व-रत्न की रक्षा करना चाहिए।

प्रश्न—'पर-पाषण्ड प्रशंसा' का सही अर्थ—'पर—पुद्गल' की प्रशसा है, वे पुद्गल-प्रेमी हैं। पुद्गल प्रेम ही आत्मा के लिए पर-पाषण्ड प्रशसा है। जो लोग इसका अर्थ—'अन्य धर्मावलम्बी की प्रशसा करना' करते हैं, वे गलत अर्थ करते हैं। इस विषय मे आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पर-पाषण्ड प्रशंसा का अर्थ—"पौद्गलिक विकार की प्रशंसा करना, निश्चय दृष्टि से ठीक है. किंतु व्यवहार दृष्टि से 'अन्य मतावलम्बी=मिथ्या दर्शनी की प्रशसा करना" अर्थ ही सत्य, आगमोक्त तथा युक्ति सगत है। दोष के ये भेद, व्यवहार दृष्टि से ही प्रतिपादित किये गये हैं।

'परपासंडपसंसा' और 'परपासडसथव' अतिचार, उपासकदसा अ० १ के मूलपाठ मे आया है। श्रावक शिरोमणि

श्री आनन्दजी ने जब भगवान् के समक्ष व्रत धारण किये, तब त्रिलोकाधिपति ने अपने श्रीमुख से, आनन्द को श्रमणोपासक के व्रत मे लगने वाले दोषो को बताकर सावधान किया। भगवान् ने विरति के दोष तो बाद मे बताये, किंतु श्रावक के दर्शन गुण को बिगाडने वाले शंकादि पाँच दोषो को सब से पहले बताए। इसमे 'परपाषण्डप्रशसा' और 'परपाषण्ड सस्तव' ये दोष, क्रमश चौथा और पाँचवाँ है। इनका अर्थ, टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजी ने अन्य-दर्शनी की प्रशंसा करना बतलाया है। उपासकदसा की जितनी भी आवृत्तियें प्रकाशित हुईं, उन सब मे ऐसा ही अर्थ,जिनेश्वर भगवान् द्वारा भाषित अतिचारों का हुआ है और महानुभाव आनन्दजी ने भी यही अर्थ समझा था, तभी तो भगवान् द्वारा समस्त अतिचारो को बता देने के बाद उन्होने अपनी सम्यक्त्व शुद्धि की तत्परता का इकरार करते हुए निवेदन किया कि–

"प्रभो ! मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि आज से कभी भी **अन्यतीर्थिक** = जैनतीर्थ–संघ से भिन्न इतर तीर्थवाले–कुतीर्थी को, **अन्ययूथिकदेव**–हरिहरादि देवो को, **अन्ययूथिक परिग्रहित को**–जो जैन तीर्थ को छोडकर अन्य तीर्थी मे चला गया हो, इनको वन्दनादि करना, बिना बोलाए बोलना और भक्ति पूर्वक असनादि प्रतिलाभ नही करूँगा।' इस विषय मे उपासकदसा सूत्र का मूलपाठ–"**नो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए** . ... .स्पष्ट साक्षी है। महामना आनन्दजी ने श्रावक के व्रतो की प्रतिज्ञा तो की, किंतु दर्शन संबंधी प्रतिज्ञा नही हुई

थी, जब प्रभु ने अतिचारो का उपदेश करते हुए सर्व प्रथम दर्शनाचार मे लगनेवाले दोषो का दिग्दर्शन कराया, तो आनन्दजी सम्हल गये और प्रभु का उपदेश पूर्ण होते ही भगवान् को वंदना नमस्कार करके दर्शनाचार संबधी उपरोक्त प्रतिज्ञा कर ली। भगवान् ने अतिचारो मे परपाषण्डी प्रशसा और 'परपाषण्डी सस्तव' का दोष बताया, तब श्री आनन्दजी ने इनको त्यागने के लिए अन्ययूथिक शब्द से प्रतिज्ञा की। श्री आनन्दजी की प्रतिज्ञा के शब्द टीकाकार के अर्थ को सिद्ध कर रहे है। यदि कोई अन्ययूथिक का अर्थ भी 'पुद्गल प्रशंसा' करे,तो आगे आये हुए, 'वन्दना नमस्कार बोलना तथा आहारादि प्रतिलाभ का सबध वे पुद्गल के साथ कैसे जोडेगे ?

'परपाषण्ड प्रशंसा' का अर्थ टीकाकार ने तथा अन्य अर्थकारो ने-'अन्य तीर्थी की प्रशसा नही करना' किया है, वह सत्य ही है। इसकी पुष्टि आनन्दजी की प्रतिज्ञा से ही हो जाती है। इतना ही नही,उत्तराध्ययन अ. २८ के 'कुदंसणवज्जणा' नामक दर्शनाचार के विधान से विशेष सिद्धि हो जाती है। श्री गौतम भगवन् ने केशी श्रमण महाराज को कहा था कि-

"कुप्पवयण पासंडी, सव्वे उम्मग पट्ठिया,
सम्मग्गं तु जिणक्खायं,एस मग्गेहि उत्तमे।"

यह प्रमाण भी परपरागत अर्थ को पुष्ट कर रहा है।

आचाराग तथा भगवती के-'निग्गंथं पावयणं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे'-पाठ,निर्ग्रंथ प्रवचन के अतिरिक्त

अन्य प्रवचन को अनर्थ कारक बता रहा है। यह पाठ भी-'सेसे अणट्ठे' शब्द से अन्य दर्शनी के प्रवचन को त्याज्य घोषित कर रहा है।

परपाषण्ड प्रशसा का अर्थ 'श्राद्ध प्रतिक्रमण वृत्ति में-

'संका कंखा विगिच्छा, पसंसतहकुलिंगीसु, संथवो' इस गाथा की व्याख्या मे-**'सर्वज्ञप्रणीतधर्म व्यतिरिक्तानां कुलिंगिनां वर्णवाद प्रशंसोच्यते .... शाक्यपरिव्राजकादिभः सह यः संवसन-भोजनादिऽऽलापादिलक्षणः परिचया"**। 'धर्म संग्रह' के ४२ वे श्लोक तथा इसकी टीका का भी यही अभिप्राय है।

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं और ये अर्थ निश्चय दृष्टि से किये हुए अर्थ के प्रतिकूल भी नही है। क्योकि 'परपाषण्डी' लोग, व्यवहार धर्म की दृष्टि से भी परिचय के योग्य नही है, तब निश्चय दृष्टि से तो हो ही कैसे सकते हैं? तथा कुतीर्थी लोग, पुद्गलाभिमुखी विशेष होते हैं। जो आत्मवादी कहलाते हैं, वे भी स्वरूप की अज्ञानता से विपरीत दृष्टा होते हैं,इसलिए वर्जनीय हैं। अतएव प्रचलित अर्थ सत्य है, तत्थ है एवं सप्रमाण सिद्ध है। इसे गलत कहने वाले स्वयं भ्रम में पड़े हुए हैं।

परपाषण्ड प्रशंसा और परपाषण्ड संस्तव, अतिचार,पूर्व के शंकादि तीनो अतिचारो को उत्पन्न करनें वाले हैं और अनाचार तक पहुँचा कर मिथ्यात्व में ले जाने वाले हैं। अतएव इनका निवारण आवश्यक है।

५ परपाषंड परिचय

यह दोष अति भयंकर है। सोबत का कुछ न कुछ असर हो ही जाता है। जिस प्रकार सक्रामक रोग की लपट मे साधारण जनता आजाती है, उसी प्रकार दूसरो के परिचय का असर भी न्यूनाधिक होता ही है। अच्छे परिचय का अच्छा प्रभाव होता है और बुरे का बुरा। सम्यक्त्व की प्राप्ति, वृद्धि और शुद्धि के लिए 'परमार्थ सस्तव (परिचय) आवश्यक है, तो दोष से बचने के लिए 'परपाषडी परिचय' से दूर रहना भी उतना ही आवश्यक है। 'परमार्थपरिचय' सम्यक्त्व को दृढीभूत करता है, तो 'परपाषंडी परिचय,' सम्यक्त्व को नष्ट करने का कारण बन जाता है। इसलिए श्रमणो और श्रमणोपासको के लिए इस दोष से दूर रहने का विधान किया गया है।

विश्वपूज्य, परम वीतराग भगवान् महावीर प्रभु ने श्रावकशिरोमणि श्री आनन्दजी को सम्बोधन करते हुए फरमाया कि –**"एवं खलु आणंदा! समणोवासएणं अभिगय-जीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा ण समायरियव्वा, तंजहा–संका, कंखा, विइगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंड-संथवे"**। (उपासकदसा)

भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर आनन्द प्रतिबोध पाया और उसने श्रावक के व्रत धारण किये। उसके व्रत ग्रहण करते ही उपरोक्त सूत्र से आनन्द को सम्बोधन करते हुए भगवान् ने सबसे पहले पाँचो प्रकार के दोषो से वचते रहने का उपदेश दिया।

प्रथम के तीन दोष तो मुख्यतः खुद के मनोविकार से सम्बन्ध रखते हैं। इनमे दूसरो की प्रेरणा का बल नही भी होता। इसलिए ये दोष तो उचित समाधान होने पर टल भी सकते हैं, किंतु बाद के 'परपाषड प्रशम्स' तथा 'परपाषड परिचय'–ये दो दोष अत्यंत भयकर होते हैं। इनके द्वारा शकादि की उत्पत्ति होती है और परपाषंड की ओर खिचाव भी होता है, जिससे प्रथभ्रष्ट होना अत्यत सरल हो जाता है। आनन्द, परपाषंड परिचय के खतरे की भयानकता समझ चुका था। इसलिए उसने भगवान् के बताये हुए व्रतो के अतिचारो को धारण कर लिया और इन दोषो से बचने के लिए खासतौर से प्रतिज्ञा की कि–

"नो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइं अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थिय देवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा वंदित्तए वा णमंसित्तए वा पुव्वि अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा।"

भगवन् ! मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि आज से 'अन्य तीर्थिको, अन्यतीर्थिक देवो और सम्यक्त्व का वमन करके अन्यतीर्थिको मे मिले हुए पूर्व परिचितो को वन्दनादि नही करूँगा, बिना बुलाये नही बोलूंगा और बारबार भी नही बोलूंगा, उन्हे अशन, पान, खादिम और स्वादिम नही दूंगा, बारबार नहीं दूंगा।" इस प्रतिज्ञा मे आनन्द विशेष रूप से 'परपाषडी परिचय' से बचने का इकरार करता है। यह सोचने की बात है।

कारण निन्हव मान लिये गये। अब उसी समाज के साधु, निन्हवो से भी अनेक गुण अधिक कुश्रद्धालु बन गये। यह खेद का विषय है।

एक जैन नामधारी पंडित जी, अपने जैसे ही दूसरे पंडित से कहते हैं कि "अजैनो के भगवान् तो रत्न-जडित ऊँचे सिंहासन पर बिराजते हैं, किंतु जैनियो के भगवान् (सिद्ध) लोकाग्र पर चमगादड (अथवा फांसी पर लटकते हुए व्यक्ति) की तरह अधर झूलते रहते हैं"। ऐसे पंडित कितने खतरनाक हैं? अजैन कहलानेवाले पंडितो के बनिस्बत ये जैन पडित अधिक खतरनाक होते है। ऐसे ही पंडितो से पढे हुए, विद्वान् कहानेवाले प्रखर-वक्ता मुनिजी ने स्त्रियो को पुरुषो के समान बताते हुए उनमे तीर्थंकर बनने की योग्यता बताई थी। जब उनसे कहा गया कि 'स्त्री के तीर्थंकर होने की घटना आश्चर्यजनक है और ऐसा आश्चर्य अनन्तकाल मे कभी होता है,' तब वे तपाक से बोले– "यदि स्त्री का तीर्थंकर होना आश्चर्यरूप मानते हो, तो आश्चर्यरूप मे तो कभी 'गधा' भी तीर्थंकर हो जायगा'? इस प्रकार की वज्रभाषा कई व्यक्तियो के बीच बोलकर मुनिजी ने (श्रद्धालुओ की दृष्टि से) अपने घोर मिथ्यात्व का परिचय दिया। उनमे यह मिथ्या परिणति 'पाखड परिचय' के निमित्त से आई और उनका परिचय भी पाखंड-वर्धक साबित हुआ। उनके ऐसे विचारो का जिन लोगो मे प्रचार हुआ, उनमे जिनका धार्मिक ज्ञान साधारण या नही जैसा था और जो उन पर श्रद्धा रखते थे, वे तो कुश्रद्धालु बने ही होगे। इसमे कोई सन्देह नही है।

यह मिथ्यात्व का परिचय करने का परिणाम है।

दर्शनभ्रष्टों की भयानकता

ऐसे 'स्व' कहलाने वाले पाषडी सबसे अधिक खतरनाक और संस्कृति की जड़े काटनेवाले होते हैं। उनके परिचय का त्याग, मूल प्रतिज्ञा मे ही किया गया है। सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा मे दो बाते उपादेय है और दो हेय है।

१ परमार्थ का परिचय करना, कीर्तन करना, आदर करना आदि।

२ सम्यग्दृष्टि और परमार्थ की आराधना करने वाले मुनिराज आदि की सेवा करना।

ये दो पद उपादेय हैं। इनके सिवाय–

१ व्यापन्न वर्जन=जिन्होने सम्यक्त्व का वमन कर दिया=त्याग दिया और सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो चुके, उनकी संगति का त्याग करना।

२ कुदर्शन वर्जन=मिथ्यामतियो की संगति का त्याग करना।

ये दो पद हेय–त्यागने योग्य है। त्यागने योग्य प्रतिज्ञा मे कुदर्शन त्याग के पूर्व 'व्यापन्न वर्जन को स्थान दिया। इस पर से यह समझना चाहिए कि कुदर्शनी–जन्मजात मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा, श्रद्धा-पतित व्यक्ति अधिक घातक होते हैं। वे जैनी, साधु, या श्रावक कहलाते हैं। वे 'स्व–अपने माने जाते हैं। उनके द्वारा संस्कृति का जितना अहित होता है, उतना कुदर्शनी से

आनंद शकादि तीन दोषो के लिए प्रकट रूप से कुछ नही बोलता, किंतु पिछले दो दोषो के लिए जाहिर मे प्रतिज्ञा करता है। इसका कारण यही है कि शकादि प्रथम के तीन दोष तो हृदय से ही सम्बन्ध रखते है, किंतु पिछले दो दोष,प्रकट रूप से दूसरो से ही सबध रखते है। यदि स्वयं दृढ हो और उन पर परपाषड के परिचय का कोई प्रभाव नही पडे, तो भी उसका कुप्रभाव दूसरो पर पड सकता है, और उनके परिचय का गलत प्रचार होकर अन्य लोगो के सम्यक्त्व मे दूषण का कारण बन सकता है। एक अग्रसर-सैकडो हजारो पर प्रभाव रखने वाले व्यक्ति को, यह ध्यान रखना पडता है कि उसकी किसी प्रवृत्ति का कोई दुरुपयोग नही करले। परपाखडी परिचय का प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने मौजूद है। ओसवाल जाति के लोग सभी जैनी ही हैं, किंतु मेवाड मारवाड मे अनेक ओसवाल वैष्णवादि भी हैं। इसका कारण यह दोष ही है। राजादि के विशेष परिचय मे रहने के कारण वे भी उनके मत के हो गये। स्थानकवासी, भीखणजी के परिचय से तेरापंथी और कानजी के परिचय से सोनगढ पंथी हो गये, यह सभी जानते हैं। आनन्द हजारो के लिए आधारभूत था, अनुकरणीय था। उसकी प्रवृत्ति का दूसरे लोग अनुकरण करते थे। इसलिए उसने परपाषंड-प्रशंसा और परपाषंड-परिचय का घोषणापूर्वक निषेध किया। उसके इस प्रकट निषेध का, उसका अनुकरण करने वालो पर बहुत अच्छा प्रभाव पडा होगा। वह स्वय या तो 'संघपति' अथवा संघपति के समान था। संघ रक्षा उसके ध्यान मे थी। वह दृढधर्मी था,

उसे अपनी व दूसरो की सम्यक्त्व निर्मल रखना था। मिथ्यात्व का वह शरीर द्वारा अनुमोदन भी नही करना चाहता था।

कुछ स्वतन्त्र विचारक, आनन्द की इस प्रतिज्ञा को साम्प्रदायिक कट्टरता अथवा अनुदारता या अन्य धर्मियो के प्रति द्वेष-बुद्धि बतलावेगे। किंतु ऐसा आक्षेप करना बुद्धिमत्ता का सूचक नही होगा। प्रत्येक आत्मार्थी एव परोपकारी व्यक्ति, बुरी सगति से दूर रहने का उपदेश करते हैं। कुसगति त्याग का उपदेश, हित-बुद्धि से होता है। उसे साम्प्रदायिक कटुता अथवा द्वेष मूलक बताना अज्ञान का परिणाम है। पाषड-परिचय त्याग की हितशिक्षा मे, उस प्राणी को और दूसरो को मिथ्यात्वरूपी बुराई से बचाने का शुभाशय रहा हुआ है। इस लिए श्रमणो को भी अन्य तीर्थियो और गृहस्थो के साथ रहने, आहार विहारादि करने का (आचाराग १-८-१) स्पष्ट निषेध किया है। सूयगडाग सूत्र (१-१४) मे स्पष्ट रूप से उदाहरण के साथ लिखा है कि-'जिस प्रकार बिना पंख के पक्षी को मासाहारी पक्षी दबोच लेते हैं, उसी प्रकार धर्म में अनिपुण व्यक्ति को पाखंडी लोग धर्मभ्रष्ट कर देते हैं।" जब परमार्थ संस्तव के अभाव मे ही जीव, नन्दन मनिहार की तरह सम्यक्त्व को गँवाकर मिथ्यात्वी बन सकता है, तो पाखण्ड-परिचय तो उससे भी अत्यधिक भयंकर खतरा है। हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जिस समाज मे धर्म-श्रद्धा का अत्यधिक आदर रहा है, निर्ग्रन्थ प्रवचन से किंचित् भी न्यूनाधिक प्ररूपणा को मिथ्यात्व का कारण माना है, तथा जमाली आदि मामूली-सी भूल के

कारण निन्हव मान लिये गये । अब उसी समाज के साधु, निन्हवो से भी अनेक गुण अधिक कुश्रद्धालु बन गये । यह खेद का विषय है ।

एक जैन नामधारी पंडित जी,अपने जैसे ही दूसरे पंडित से कहते है कि "अजैनो के भगवान् तो रत्न-जड़ित ऊँचे सिंहासन पर बिराजते हैं, किंतु जैनियो के भगवान् (सिद्ध) लोकाग्र पर चमगादड (अथवा फांसी पर लटकते हुए व्यक्ति) की तरह अधर झूलते रहते है" । ऐसे पंडित कितने खतरनाक है ? अजैन कहलानेवाले पडितो के बनिस्बत ये जैन पडित अधिक खतरनाक होते है । ऐसे ही पंडितो से पढे हुए, विद्वान् कहानेवाले प्रखर-वक्ता मुनिजी ने स्त्रियो को पुरुषो के समान बताते हुए उनमे तीर्थंकर बनने की योग्यता बताई थी । जब उनसे कहा गया कि 'स्त्री के तीर्थंकर होने की घटना आश्चर्यजनक है और ऐसा आश्चर्य अनन्तकाल मे कभी होता है,' तब वे तपाक से बोले– "यदि स्त्री का तीर्थंकर होना आश्चर्यरूप मानते हो, तो आश्चर्यरूप मे तो कभी 'गधा' भी तीर्थंकर हो जायगा' ? इस प्रकार की वज्रभाषा कई व्यक्तियो के बीच बोलकर मुनिजी ने (श्रद्धालुओ की दृष्टि से) अपने घोर मिथ्यात्व का परिचय दिया । उनमे यह मिथ्या परिणति 'पाखड परिचय' के निमित्त से आई और उनका परिचय भी पाखंड-वर्धक साबित हुआ । उनके ऐसे विचारो का जिन लोगो मे प्रचार हुआ, उनमे जिनका धार्मिक ज्ञान साधारण या नही जैसा था और जो उन पर श्रद्धा रखते थे, वे तो कुश्रद्धालु बने ही होगे । इसमे कोई सन्देह नही है ।

यह मिथ्यात्व का परिचय करने का परिणाम है।

दर्शनभ्रष्टों की भयानकता

ऐसे 'स्व' कहलाने वाले पाषडी सबसे अधिक खतरनाक और संस्कृति की जड़े काटनेवाले होते हैं। उनके परिचय का त्याग, मूल प्रतिज्ञा मे ही किया गया है। सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा मे दो बाते उपादेय है और दो हेय है।

१ परमार्थ का परिचय करना, कीर्तन करना, आदर करना आदि।

२ सम्यग्दृष्टि और परमार्थ की आराधना करने वाले मुनिराज आदि की सेवा करना।

ये दो पद उपादेय हैं। इनके सिवाय–

१ व्यापन्न वर्जन=जिन्होने सम्यक्त्व का वमन कर दिया=त्याग दिया और सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो चुके, उनकी सगति का त्याग करना।

२ कुदर्शन वर्जन=मिथ्यामतियो की संगति का त्याग करना।

ये दो पद हेय–त्यागने योग्य हैं। त्यागने योग्य प्रतिज्ञा मे कुदर्शन त्याग के पूर्व 'व्यापन्न वर्जन को स्थान दिया। इस पर से यह समझना चाहिए कि कुदर्शनी–जन्मजात मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा, श्रद्धा-पतित व्यक्ति अधिक घातक होते हैं। वे जैनी, साधु, या श्रावक कहलाते हैं। वे 'स्व–अपने माने जाते हैं। उनके द्वारा संस्कृति का जितना अहित होता है, उतना कुदर्शनी से

नही होता। क्योकि वे कुदर्शनी तो प्रारंभ से ही 'पर'—दूसरे कहलाते हैं। इसलिए उनपर पहले से विश्वास नही होता। व्यापन्न=''श्रद्धा-भ्रष्ट'' की संगति का वर्जन तो मूल प्रतिज्ञा मे ही है। जो व्यापन्न बने हैं, वे प्राय 'परपाषड परिचय' से बने होते हैं। अतएव कुदर्शन-वर्जन रूप प्रतिज्ञा के अतिचार मे, 'परपाषड प्रशसा और परपाषंड परिचय का भी त्याग बताया है। इस दोहरे विधान से इनकी भयानकता सिद्ध हो जाती है। अतएव इस भयानक खतरे से हर समय बचे रहना चाहिए।

हमने ऊपर जिन पडितो के मिथ्यात्व का उल्लेख किया, उसका समाधान भी कर देना जरूरी समझते है, जिससे पाठको को किसी प्रकार का भ्रम नही रहे।

(१) सिद्ध भगवान् की स्थिति न तो फाँसी पर लटके हुए मनुष्य जैसी है और न ओधे-मुह लटकने वाले चमगादड पक्षी जैसी है। मनुष्य फाँसी पर बरबस लटकाया जाता है अथवा अत्यत विवश होकर लटकता है। इससे उसे महान् दु.ख होता है। उसके और चमगादड के लटकने मे अन्तर है। चमगादड अपने जाति-स्वभाव से लटकता है। लटकने मे वह दुखानुभव नही करता, किंतु दूसरे पक्षियो के बैठने की तरह स्वाभाविक दशा का ही अनुभव करता होगा। जिस प्रकार सर्पादि का पेट के बल चलना (सरकना) और मेढक आदि का फुदकना स्वाभाविक है, उसी प्रकार चमगादड का लटकना स्वाभाविक है। आकाश मे मुक्त रूप से उडनेवाले पक्षी का उडना और जलाशयो मे तैरने वाले मत्स्यादि का तैरना स्वाभाविक है। फिर भी ये शरीर

का गुरुत्व लिए हुए होने से एक ही प्रकार की स्थिति मे चिर-काल तक नही रह सकते। किंतु सिद्ध भगवान् के शरीर का भारीपन नाम मात्र को भी नही है। वे अशरीरी हैं, अरूपी हैं और अपनी सहज स्वाभाविक और परम सुखमय स्थिति मे स्थिर हैं। उनके लिए इस प्रकार की खोटी कल्पना (वह भी जैन पण्डित करे) तो उनके जैन नाम को कलंकित करने जैसी ही है। अच्छा होता यदि वे जैनी नही कहलाते। इन पण्डितो का यह तर्क, मिथ्यात्व के उदय का परिणाम तो है ही, किंतु भोडा भी इतना ही है कि जिससे सामान्य समझवाला भी इनके तर्क पर हँसे बिना नही रहे। एक तृप्त और सुखी मनुष्य, सुख शय्या पर आराम से सोया हुआ है। वह सोने मे सुखानुभव कर रहा है। उसे कोई कहे कि 'यह मुर्दे की तरह पडा सड रहा है', और मुर्दे के दुर्गुण की उसमे कल्पना करे, तो उसके जैसा मूर्ख और कौन होगा? इससे भी बदतर दशा है सिद्ध भगवान् के विषय मे उपरोक्त कुतर्क करनेवालो की।

२ जैनदर्शन मे आश्चर्यभूत उन्ही बनावों को माना है, जो सामान्य अवस्था मे असम्भव है, किंतु विशेष अवस्थाओ मे वैसे बनाव कभी बनते हैं। जैसे–स्त्री मुक्त तो हो सकती है, परंतु तीर्थंकर नही हो सकती। स्त्री का मुक्त होना आश्चर्यभूत नही माना गया। और मुक्त होने की योग्यता वाली स्त्री ही तीर्थंकर हुई है। आश्चर्यभूत उसका तीर्थंकर होना ही है। किंतु गधा (मनुष्येत्तर प्राणी) तो मुक्त भी नही हो सकता, अहमिन्द्र भी नही हो

सकता, उच्च कल्पोत्पन्न देव भी नही हो सकता, तब ऐसा कुटिलतापूर्ण वाक्-बाण क्यो छोडा गया ? यदि कुश्रद्धालु लोग, यह भी कुतर्क उपस्थित कर दें कि "तब तो निगोद का जीव, विष्ठा का कीडा या नारक भी...... तो ऐसे कुतर्कियो का मुँह कौन पकड सकता है ?

जैनदर्शन मे आश्चर्यभूत उन्ही विषयो को माना है जो सर्वथा अनहोने तो नही हो, किंतु सामान्य नियम से कभी कुछ विपरीतता लिए हुए हो । जैसे कि--

१ उपसर्ग, मनुष्यो को होते है, श्रमणो, विशिष्ठ श्रमणो और छद्मस्थ तीर्थङ्करो को भी उपसर्ग होते है--हुए है । उपसर्ग होते होते केवलज्ञान होकर मोक्ष गमन हुआ है । इसलिए उपसर्ग होना कोई आश्चर्य की बात नही है। किंतु तीर्थंकर हो जाने के बाद उन्हे उपसर्ग होना ही आश्चर्य की बात है । इस आश्चर्य और अनाश्चर्य मे अन्तर विशिष्ट स्थिति का है और कुछ नही ।

२ गर्भहरण सामान्य बात है । यह आश्चर्य की बात नही, किंतु तीर्थंकर जैसी महान् आत्मा का गर्भ हरण हो, यही आश्चर्य की बात है ।

६ परिषद् प्रतिबोध नही पावे, तो यह साधारण-सी बात है, किंतु जगद्गुरु परमवीतराग तीर्थंकर भगवान् के प्रतिबोध से, प्रथम समवसरण स्थित एक भी जीव सर्वत्यागी नही बने, यही आश्चर्य की बात है ।

इस प्रकार अन्य आश्चर्य भी ऐसे है कि जो सम्यक्

विचारणा से समझ में आ सकते हैं। आश्चर्य और अनाश्चर्य मे थोड़ा-सा ही अन्तर है। जैनदर्शन के आश्चर्य वैसे नहीं, जैसे अजैनों के देवो की स्वाभाविक दशा होती है (मत्स्यावतारादि वत्)। किंतु सिद्धांत विहीन, कुतर्क जाल मे फँसे हुए लोकोत्तर वेशधारी, ऐसे लौकिक विद्वानों की दृष्टि मे उनके तर्क ही सब कुछ हैं। उस कुतर्क को वे दृढ़ता से पकड़े हुए हैं।

जिस प्रकार 'परपाषंडी परिचय' त्यागने योग्य है, उसी प्रकार 'परपाषड प्रतिपादक साहित्य' भी त्यागने योग्य है। ऐसे साहित्य को पढ़नेवाले अधिकांश मिथ्यादृष्टि हो गये हैं। जिन साधुओ ने विश्वविद्यालयो की परीक्षा दी, उनमे से बहुत से दर्शन-भ्रष्ट और चारित्र-भ्रष्ट हुए है। उनकी पाठ्य पुस्तकों में सम्यग्ज्ञान युक्त एक भी पुस्तक नही होती। सभी पुस्तके उदयभाव को प्रोत्साहन देने वाली होती है। जब से स्थानकवासी समाज के साधु 'परपाषडी ग्रंथो को पढ़कर भाषाविद्, वाक्पटु तथा डिगरीधारी बनने लगे, तब से मिथ्या प्रचार होने लगा। समाज अब भी चेते और असम्यग् साहित्य, अपने साधुओ को नही पढने दे, तो यह बुराई अधिक नही फैलेगी। हमारे पूर्वजों ने ढाई हजार वर्ष तक जैनसंस्कृति की विचार शुद्धता को बनाये रखा, किंतु हमने अपने जमाने मे सम्यक्त्व-रत्न की रक्षा नहीं की। हमारे कोई कोई धर्मगुरु और उत्तरदायित्व धराने वाली सस्था, खुलेरूप मे मिथ्यात्व का प्रचार कर समाज को सिद्धान्त विहीन बनावे और हम यह सब चुपचाप होने दे, तो यह हमारे सिर पर कलक है। भविष्य मे इतिहास यही बतावेगा कि विक्र-

मीय २१ वी शताब्दी के प्रारंभ मे ऐसे सत्वहीन स्था० जैनी हुए कि श्रद्धाभ्रष्टो के द्वारा बिगडते हुए समाज को नही रोक सके–'चू' तक नही कर सके।

परपाखण्डियो की सगति से सभी खतरे पैदा हो सकते है। जिनधर्म के प्रति शंका होती है, परदर्शन को ग्रहण करने की इच्छा होती है, करणी के फल मे सदेह होता है। ये सभी खतरे "परपाखड–परिचय" से उत्पन्न होकर जीव को सम्यक्त्व से भ्रष्ट कर देते हैं। इसलिए इन खतरो से सावधान रहकर बचते रहना अति आवश्यक है।

अंबड जैसा पक्का श्रावक–जो पहले परपाखंडी था, भगवान् का उपदेश सुनकर दृढ सम्यक्त्वी हो गया था। उसके ७०० शिष्य भी जिनधर्मी हो चुके थे। ऐसा प्रकाण्ड विद्वान् और विशिष्ठ शक्ति सम्पन्न अंबड श्रावक (सन्यासी) भी पर-पाखड से दूर रहने के लिए प्रभु के सामने प्रतिज्ञा करता है। सयती राजऋषीश्वर को क्षत्रीय राजऋषीश्वर, प्रथम मिलन मे ही पाखंड से बचे रहने की बात पूछते हैं। तर्क-बल से भले ही कोई इस बात को झुठलाने का व्यर्थ प्रयत्न करे, परतु परपाखंड परिचय के दुष्परिणाम से इन्कार नही किया जा सकता।

श्री जिनवचनो पर श्रद्धा रखना और आगम निर्दिष्ट खतरो से दूर रहना, प्रत्येक धर्म प्रेमी के लिए अत्यावश्यक है।

मिथ्यात्व

'सम्यक्त्व'—यह ऐसा विषय है कि जिसे समझने के

लिए तर्क वितर्क भले हो, किंतु वह श्रद्धा को ठेस पहुँचाने वाले नही हो। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यदि कुतर्क जाल मे फँसे, तो फिर मिथ्यात्व मे ही स्थान होता है। शकादि अतिचारो से तो सम्यक्त्व मे मलिनता आती है, वह नष्ट नही होती, किंतु जब जिनेश्वरो या उनके बताये हुए तत्त्वो के विपरीत किसो एक भी विषय मे निश्चित विचार हो जाता है, तो उसकी स्थिति फिर मिथ्यात्व मे ही होती है। जिस प्रकार श्रमणो की साधुता अखड मोती के समान है, उसी प्रकार सम्यक्त्व भी अखड मोती के समान है। मोती, यदि किसी भी ओर से किंचित् भी टूट जाय, तो वह शृंगार के काम मे नही आता, किंतु अंगार मे रख कर भस्म (मुक्ता भस्म) करने के काम मे आता है। सम्यक्त्व सोने की वह डली नही, जो जितना चाहो, उतना ले लो और बाकी छोड दो। श्री प्रज्ञापना सूत्र के २२ वे पद मे लिखा है कि 'मिथ्यात्व का त्याग सभी द्रव्यो से होता है।' जब सभी द्रव्यो मे मिथ्यात्व छूटेगा, तभी सम्यक्त्व होगी। जो तत्त्व के किसी अंश मे श्रद्धालु है, वह जिनेश्वरो के केवलज्ञान मे अविश्वासी है और केवलज्ञान मे अविश्वासी है, वह जिनेश्वरो मे ही अविश्वासी है। जिनेश्वरो मे अविश्वासी होने वाला जैनी हो ही नही सकता। जिनेन्द्र प्ररूपित किसी एक वस्तु या उस वस्तु के किसी अंश पर अश्रद्धा होना, और जिनेश्वरो पर अश्रद्धा होना दोनो बराबर ही है।

जब जिज्ञासा अपनी सीमा से आगे निकल कर शंका का रूप ग्रहण करती है, तब सम्यक्त्व मे अतिचार लगता है,

किंतु जब वही शंका कुश्रद्धा को उत्पन्न कर देती है, तो फिर अनाचार बनकर मिथ्यात्व के गर्त मे ढकेल देती है। अतएव सम्यक्त्वी को सदैव सावधानी पूर्वक सम्यक्त्व की रक्षा करनी चाहिए।

मिथ्यात्व वह भयानक बुराई है जो जीव को अनन्त जन्म मरण मे जोडकर दु ख परम्परा को बढाती रहती है। इसके समान आत्मा का शत्रु और कोई नही है। यो तो अविरति, प्रमाद और शेष कषाये भी आत्मा के लिये दु ख-दायक है, लेकिन सम्यक्त्व अवस्था मे इनका जोर उतना नही चल सकता। उस समय इनकी शक्ति मन्द रहती है। सम्यक्त्व रूपी शूर के प्रकट होते ही अनन्त भव-भ्रमण मे जोडने वाले मिथ्यात्व को या तो भूमिगत हो जाना पड़ता है, या नष्ट होना पडता है। मिथ्या तिमिर के लुप्त होते ही आत्मा, दीपक के प्रकाश मे आ जाता है। उसे अपने शाश्वत घर का मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है। फिर अपनी शक्ति के अनुसार संसार अटवी को लाघकर अपने शाश्वत स्थान पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। यदि इस दीपक की लौ जलती रही, उसमें सम्यग्ज्ञान का स्नेह मिलता रहा और मिथ्यात्व रूपी वायु से रक्षा होती रही, तो यह दीपक, मशाल बन जायगा और आगे चलकर सूर्यवत् बन जायगा। यदि मिथ्यात्व मोहनीय के झपाटे से सम्यक्त्व रूपी दीपक बुझ गया, तो फिर मिथ्यात्व के खड्डे मे गिरना होगा।

मिथ्यात्व रूपी रोग महा-भयानक होता है। इसकी स्थिति तीन प्रकार की मानी गई है।

१ अनादि अपर्यवसित मिथ्यात्व

सदाकाल, शाश्वत रूप से जम कर रहने वाला, जो कभी पृथक् हो ही नही सकता। इस प्रकार के मिथ्यात्व के धनी को 'अभव्य' कहते हैं। अभव्य सदा अभव्य (मुक्ति पाने के अयोग्य) अर्थात् मिथ्या दृष्टि ही रहता है। आचार्यों ने यही दशा जाति-भव्य* की भी मानी है। अभव्य, उस वंध्या-स्त्री जैसा होता है कि जिसे पुरुष का योग प्राप्त होने पर भी पुत्र की प्राप्ति नही होती—हो ही नही सकती। और आचार्यों के अनुसार जाति भव्य, उस युवती विधवा जैसा है कि जिसमे पुत्रोत्पत्ति की योग्यता होते हुए भी, पुरुष का योग नही मिल सकता। इसलिये वह भी पुत्र प्राप्ति से वंचित रहती है। पुत्र रूप फल से तो वंध्या भी वंचित रहती है और विधवा भी, किंतु वंध्या तो अपनी अयोग्यता से वंचित रहती है और विधवा योग्यता होते हुए भी साधन का सुयोग नही मिलने से वंचित रहती है। इस प्रकार मोक्ष की अपेक्षा से तो अभव्य और जाति भव्य समान ही है, अन्तर है तो केवल योग्यता का।

२ अनादि सपर्यवसित मिथ्यात्व

अनादिकाल से चले आते हुए मिथ्यात्व का अन्त होना। यह मिथ्यात्व, उन सभी प्राणियो को था, है और रहेगा, जो 'भवसिद्धिक' हैं। भूतकाल मे जिन अनन्त आत्माओ ने पहले

---

* आगमों में जातिभव्य का भेद दिखाई नहीं दिया। भगवती सूत्र में सभी भव्यो को सिद्ध होने योग्य बतलाया है।

मिथ्यात्व नष्ट किया और सम्यक्त्व प्राप्त की, वे सभी अनादि मिथ्यादृष्टि ही थे। मुक्ति प्राप्त सभी सिद्ध भगवान् भी पहले अनादि मिथ्यादृष्टि थे। उन्होने ग्रन्थी-भेद करके सम्यक्त्व प्राप्त की। वर्त्तमान मे भी ऐसे जीव है, जो अनादि मिथ्यात्व को दबाकर या नष्ट कर (महाविदेह मे) सम्यक्त्व प्राप्त करते है, और अनन्त जीव ऐसे हैं जो अभी तो अनादि मिथ्यात्व मे ही पडे हैं, लेकिन भविष्य मे कभी भी मिथ्यात्व को नष्ट कर सम्यत्व प्राप्त करेगे।

३ सादि सपर्यवसित मिथ्यात्व

मिथ्यात्व की आदि भी है और अन्त भी। दूसरे प्रकार मे मिथ्यात्व को अनादि बतलाया और मिथ्यात्व, समष्ठि और व्यक्ति की अपेक्षा भी अनादि ही है। यह जीव के साथ सदा से लगा हुआ ही रहता है, फिर यह तीसरा भग कैसे बना? समाधान है कि जीव अनादि मिथ्यात्व को त्याग कर सम्यक्त्वी बनता है, किंतु इसका यह नियम नही है कि वह फिर कभी मिथ्यात्व मे जा ही नही सकता। एक क्षायिक सम्यक्त्व के सिवाय, उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व मे पतन की संभावना रहती है, अर्थात् सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व मे प्रवेश हो जाता है। दूसरी वार मिथ्यात्व की प्राप्ति ही उस मिथ्यात्व की आदि बतलाता है। बस यही भेद तीसरे प्रकार का है। इस भेद वाला प्राणी गफलत मे आकर मिथ्यात्व मे गिर पडता है, किंतु उस मिथ्यात्व मे वह अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन काल से अधिक नही रहता। सम्यक्त्व के पूर्व संस्कार उसे

मिथ्यात्व से निकाल ही लेते हैं। इस प्रकार यह पतन अस्थायी होता है। इस भेद वाले सभी प्राणी अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उत्थान और पतन एक दो या तीन बार ही नही, लेकिन हजारो बार हो सकता है।

एक भंग और रहता है, जिसका नाम 'सादि-अपर्यवसित' है, लेकिन यह भंग मिथ्यात्व के लिए लागू नही होता। 'मिथ्यात्व की आदि हो और अन्त नही हो'-ऐसा कोई भेद नही है। हाँ, मुक्त जीवो के लिए यह भेद लागू हो सकता है कि-'उनकी कर्म-मुक्ति=संसार मुक्ति' सादिअपर्यवसित है और क्षायिक सम्यक्त्व भी सादि-अपर्यवसित होती है। मिथ्यात्व के विषय मे यह भग शून्य ही है।

जिस आत्मा के असंख्य प्रदेशात्मक क्षेत्र मे मिथ्यात्वरूपी विष रमा हुआ होता है, उसमे विरति (त्याग, प्रत्याख्यान) अप्रमत्तता और कषाय रहितता (वीतरागता) तथा सर्वज्ञता रूपी गुण उत्पन्न नही होते। इन सब गुणो का उत्पत्ति स्थान सम्यक्त्व ही है। सम्यक्त्व, आत्मरूपी क्षेत्र को शुद्ध करके उसे गुणोत्पत्ति के योग्य बना देती है फिर विरति आदि गुणो से पवित्र होती हुई आत्मा, परमात्मरूप बन जाती है।

जिन भव्यात्माओ मे सम्यक्त्व गुण बसा हुआ है और जिन्हे सम्यक्त्व से अत्यधिक प्रीति है, तथा जो सम्यक्त्व को सुरक्षित रखना चाहते हैं, उनका प्रथम कर्त्तव्य है कि वे मिथ्यात्व से अपने को बचाये रहे, दूर ही रहे। मिथ्यात्व से बचने के भेदो को समझना सर्व प्रथम आवश्यक है। अतएव यहाँ

मिथ्यात्व के भेदो का वर्णन किया जाता है।

१ अधर्म को धर्म मानना

जिस मत अथवा आचरण मे आत्मा को विशुद्ध करके शाश्वत सुख देने की योग्यता नही, जो आत्मा को जन्म-मरणादि दु खो से नही छुडा सकता और संसार मे रुलाता ही रहता है, ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, आरम्भ परिग्रह और कषाय को बढाने वाले अधर्म-प्रवर्तक मतो और क्रियाओ को धर्म मानना, अव्वल नम्बर का मिथ्यात्व है। कई लोग गरीब पशु-पक्षियो को बलि चढा कर धर्म मानते है, तो कई यज्ञादि मे ही धर्म की कल्पना करते है। कई कन्यादान करना परम धर्म मानते हैं, तो कई ऋतुदान करना धर्म की आराधना होना कहते हैं। स्थावर तीर्थों की यात्रा और नदियो मे स्नान करने से धर्म की प्राप्ति होना मानने वाले भी ससार मे करोडो है। वृक्ष-पूजा, मूर्ति-पूजा, व्यन्तरादि देवो की स्तुति आदि अनेक प्रकार के अधर्म ससार मे, धर्म के नाम पर चल रहे है। मदिरा मास, मैथुनादि पंच मकार के सेवन करने रूप अधर्म को धर्म मानने वाले भी इस ससार मे है। इस प्रकार ससार मे अधर्म को धर्म मानने वालो की जिधर देखो उधर बहुलता दिखाई देती है।

जिस मत मे सम्यक् विचार नही, जिनके आचार मे हिसा, झूठ आदि अठारह पापो की विरति नही, जिनके शास्त्र, विषय कषाय को प्रोत्साहन देने वाले हैं और जिनके तप मे

अज्ञान कष्ट कूट कूट कर भरा है, ऐसे अधर्म को धर्म मानना पहला मिथ्यात्व है। जो अधर्म, ससार मे भटकाने वाला है, अज्ञान को बढाने वाला है, लोहे के समान त्याज्य है। उसे रत्न के समान सुखदायक धर्म मानना, भयानक भूल है। यदि मनुष्य अपनी बुद्धि का सदुपयोग करके अधर्म को समझ ले और उसे धर्म रूप नही माने, तो यह उसकी बडी भारी सफलता है।

हिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन, परिग्रह और क्रोधादि १८ पाप हैं। भले ही ये अपने खुद के लिये किये जायँ, या दूसरो के लिये अथवा धर्म के नाम पर ही, पाप तो सदैव पाप ही रहेगा। पुण्य, शुभ बन्ध का कारण होगा। आस्रव अपने आप मे आस्रव ही है, वह सवर नही हो सकता। बन्ध तत्त्व, मोक्ष का विरोधी ही है। इस प्रकार आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु की यथार्थ जानकारी होने पर ही मिथ्यात्व छूट सकता है, अन्यथा नही।

यदि कोई सोने को पीतल मानकर लेले, तो यह प्रत्यक्ष मे गलत है और इससे उसको हानि उठानी पडती है, फिर भी इतने मात्र से वह मिथ्यादृष्टि नही है। सम्यग्दृष्टि भी इस प्रकार ठगा जा सकता है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का संबध आत्मा के लिये हिताहितकारी विषयो से है। पीतल को सोना समझ कर लेने वाला तो एक बार ठगाता है और वह उतनी बडी हानि नही है, जितनी कि अधर्म को धर्म मानकर अपनाने मे है। विष को अमृत मानकर पीने से भी अधिक भयानक है–अधर्म को धर्म मानकर स्वीकार करना। अतएव अधर्म को

भयानकता समझकर उसे त्यागना सर्व प्रथम आवश्यक है।

मिथ्यात्व मे सबसे पहला स्थान अधर्म को धर्म मानने रूप उल्टी श्रद्धा को दिया गया है। यह सर्वथा उचित है। अधर्म रूपी विष को धर्म रूपी अमृत मान कर जीव, अनन्त जन्म मरणादि की महान् दुःख परम्परा मे उलझता रहा। यदि जीव, हिंसादि अविरति, प्रमाद, कषाय, आस्रव, तथा बंध रूपी अधर्म को धर्म नही मानता—विश्वास नही करता, तो वह कुमार्ग मे नही भटकता, नरक निगोद के दुःख नही पाता। मिथ्यात्व का मूल तो इसी मे रहा हुआ है। यह पहला कारण ही अन्य सभी कारणो की जड है। यदि यह छूट जाय, तो अन्य कारण छूटना सरल हो सकता है। अतएव सबसे पहले अधर्म को धर्म मानने रूप मिथ्यात्व को बलपूर्वक नष्ट करना चाहिए और इसके बाद भी सतत सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे अधर्म को धर्म मानने की कुबुद्धि उत्पन्न नही हो।

उदय के प्रभाव से हमारे परम पवित्र जैन-धर्म मे भी कई प्रकार की गलत मान्यताएँ चल पडी और अधर्म के त्यागी तथा सर्व-विरत कहलाने वाले साधु साध्वी, अन्धाधुन्द प्रचार करने लगे। सबसे पहले चैत्यवाद ने प्रभाव जमाया। भक्ति के नाम पर आरम्भ और सावद्य व्यापार को धर्म मान लिया गया और आरम्भ त्यागी मुनिवर, खुद आरम्भ प्रवर्तक हो गए तथा सावद्य विधानो से ओत-प्रोत ग्रंथ रचडाले। पाखण्ड यहाँ तक फैला कि नदी और कुण्डो में नहाने रूप अधर्म मे भी धर्म होने की घोषणा कर दी गई। तीर्थों और देवालयो के सहारे परिग्रह

बढने लगा और त्यागी गुरु परिग्रहधारी बन गए। इसके बाद धर्म क्रान्ति हुई। हंस के समान विशुद्ध प्रज्ञावान् श्री लोकाशाह ने, दूध मे मिले हुए पानी की तरह धर्म मे मिले हुए अधर्म को भिन्न किया और विशुद्ध धर्म को पुन. प्रकाश मे लाये। यह शुद्धि आन्दोलन बहुत सफल रहा। किंतु वर्त्तमान मे यह विशुद्ध परपरा भी विकारो का घर बन गई। इसके कोई त्यागी प्रचारक, पुन. आरभजनक सावद्य प्रचार करने लगे। स्थानको, उपाश्रयो और स्मारको के आरंभ-समारंभ मे उनकी रुचि बढी। इसके लिए वे द्रव्य संग्रह करवाने लगे। गृहस्थो को प्रेरणा देकर, उनसे द्रव्य निकलवा कर ईंट चूना पत्थरादि मे लगाने लगे। एक ओर देवालय, उपाश्रय तथा तीर्थ स्थानो के निर्माण मे शक्ति लगाई जाने लगी, तो हमारे कोई कोई गुरुदेव, स्थानको और स्मारको के निर्माण मे अपने चारित्र को होमने लगे। प्रभात-फेरियाँ, जाप तथा सप्ताहो के जुलूस और तपोत्सव के विशाल आडम्बर करवाकर आरम्भ बढाने लगे और ऐसे आरभो मे स्वयं धर्म की आराधना बताने लगे। कुछ नवपठित लौकिक डिग्रीधारियो ने तो अधर्म (पाप) के कार्यों को ही धर्म समझ-कर प्रचार करने लगे। उनकी मिथ्यावाणी और लेखनी पर विचार किया जाय, तो उन्हे साधु या सम्यग्दृष्टि मानने मे ही मिथ्यात्व लगता है। मिथ्यात्व का नग्न-ताण्डव पिछले ढाई हजार वर्षों मे नही हुआ, वैसा वर्त्तमान के पठित-मूर्खों=साहित्यरत्नो ने उपस्थित किया है। 'एक नाम और रूपत. श्रमण, अपनी बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता का प्रदर्शन करते हुए हरिजनो को उपदेश देते हैं कि-"आपका कार्य सबसे बड़ा

धर्म है, और आप चाहे तो दूसरे धन्धे भी कर सकते हैं। आप मे कोई कोई तो ऐसे हैं जो राष्ट्र का नैतृत्व कर सकते है," इत्यादि। एक मुनि मिथ्यात्व भरी वाणी मे कई बार बोल गये कि "धरती के धर्म की बात करो, आकाश मे लटकते हुए हवाई धर्म की बाते छोडो," इसका मतलब परोपकार-लोकहित आदि को अपनाकर, मोक्ष धर्म को छोड़ने से है। इस प्रकार जिनकी वाणी से केवल सवर, निर्जरा, त्याग और विरति रूपी धर्म की ही धारा बहनी चाहिए, वे अधर्म का प्रचार करे और उसे सबसे बडा धर्म बतावे, इससे बढकर अज्ञान और क्या होगा ? स्थानकवासी समाज का दुर्भाग्य है कि आज उसमे इस प्रकार के अधर्म प्रचारक, धर्मात्मा का स्वाग लिए समाज को गुमराह कर रहे हैं।

अधर्म को धर्म माननेवाले मतो से तो संसार भरा हुआ है। एक जैन-धर्म ही ऐसा था जो अधर्म को धर्म नही मानता था, परन्तु इसमे भी पंचमकाल के वक्रपने के कारण उल्टी गंगा बह रही है-कुप्रावचनी बढ रहे है। यह महान् खेद की बात है। अब जो शुद्ध धर्म-कथी हैं, उनका कर्त्तव्य हो गया है कि वे श्रोताओ को धर्म और अधर्म के भेद समझावे। और सुज्ञ श्रोताओ का कर्त्तव्य है कि वे जैन तत्त्वज्ञान का अभ्यास करके धर्म-अधर्म का भेद समझे। यदि उन्होने गफलत की और अधर्म को धर्म समझ लिया, तो इस अमूल्य मानवभव और सुयोग की प्राप्ति के वास्तविक लाभ से वचित रहकर मिथ्यात्व के गर्त में गिर जावेगे। अतएव इस ओर से पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

२ धर्म को अधर्म मानना

पहला भेद अधर्म को धर्म मानने रूप मिथ्यात्व को बताने वाला था, यह दूसरा भेद 'धर्म को अधर्म' मानने रूप मिथ्यात्व को स्पष्ट करता है। कोई कोई जीव ऐसे भी होते हैं कि जो पाप को पाप ही मानते हैं, आस्रव को आस्रव और बंध को बंध ही मानते हैं, इतना होते हुए भी वे धर्म-संवर निर्जरा को, धर्म नही मानते। वे धर्म का फल मोक्ष नही मानकर पुण्य-दैविक सुख आदि मानते हैं। उन्हे मोक्ष और उसके उपाय के विषय मे श्रद्धा नही है। हमारे मे ऐसे भी नव-शिक्षित पंडित है जो धर्म को प्रवृत्ति-मूलक मानते हैं और कहते हैं-"प्रवृत्ति लक्षी निवृत्ति ही धर्म है"। नियमित धार्मिक क्रिया, सामायिक प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, प्रमार्जन, ध्यानादि को वे "जड़क्रिया" कहकर घृणा व्यक्त करते हैं।

यो तो संसार के सभी अन्य मतावलम्बी, जैन आचार विचार को धर्म नही मानते। मोक्ष की मान्यता रखने वाले अजैन मतावलम्बी भी उसके उपाय रूप धर्म मे भिन्न मत रखते हैं। वे कर्म के स्वरूप और उनको रोकने तथा नष्ट करने के सम्यग् उपाय के प्रति अश्रद्धालु हैं और मोक्ष के स्वरूप को भी ठीक तरह से नही जानते। इस प्रकार धर्म को अधर्म मानने-वाला तो सारा संसार है। यह कोई नई बात नही है, अजैन विचारधारा सदा से धर्म को अधर्म मानती रही है। नई बात तो यह है कि कोई कोई नामधारी जैन साधु भी धर्म को अधर्म कहते नही हिचकिचाते। परिग्रह का सर्वथा-त्रिकरण त्रियोग से त्याग रूप महाव्रत के विषय मे, एक नूतन पंडित साधु ने

बोलते हुए कहा था कि "आध्यात्मिकता और भौतिकता ए
दूसरे के पूरक है, न कि शत्रु। आध्यात्मिकवाद ने भौतिकवा
के विषय मे जो धारणाएँ प्रचारित की है, वे दोष रहित न
है"। आदि,+ इन विचारो को स्पष्ट रूप से एक मुनिजी ने बता
कि 'साधुओ को अपने पेट की समस्या का हल खोजना चाहिए
तब 'श्रमण' पत्र ने तो साधुओ के अपरिग्रहवाद की निंदा कर
हुए गोचरी करने को ही अधर्म (रक्त-पान) बतला दिया
सोनगढ पथ ऐसा निकला कि जिसने एकातवाद का आग्र
करके आत्मा को उन्नत बनानेवाले व्यवहार धर्म का ही लो
कर दिया।

यदि हममें विवेक है, धर्म, अधर्म और बन्ध के विष
मे हमारी धारणा सही है, तो हमे इनके भेदो के विषय मे स्पष
मन्तव्य रखना चाहिए। संवर, निवृत्ति मूलक ही है। हिंसा
झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह की निवृत्ति, इद्रियो के विषय
का निग्रह, कषाय विवेक, ये सब निवृत्ति मूलक ही है। आत्म
लक्षी है। निर्जरा मे भी निवृत्ति का ही बोलवाला है। वदन
वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रवृत्ति रूप धर्म भी निवृत्ति
साधने के ही उपाय हैं। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि हमार
ध्येय, सिद्ध होने का है और सिद्ध दशा मे कोई बाह्य प्रवृत्ति
होती ही नही। वहा ज्ञानोपयोग, अकर्मक आत्मवीर्य=शक्ति

+ बाद में इन्होंने ही कहा कि अध्यात्मवाद के अतिरेक ने धर्म की हानि की। वे योग और भोग दोनों को मिलाकर मध्यम-मार्ग बनाना चाहते हैं।

आदि गुण ही है, इसलिए हमारा भी ध्येय अकर्मक=आत्मवीर्य अर्थात् आत्मिक अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त आत्मिक सहज सुख ही होना चाहिए और इसके लिए हमारा लक्ष भी निवृत्ति का ही होना चाहिए। यदि हम उदय के जोर से अभी पूर्ण निवृत्ति प्राप्त नही कर सके, तो ध्येय तो वही रखना चाहिए। प्रवृत्ति के लक्षवाले के बंध का अभाव हो ही नही सकता। क्योकि प्रवृत्ति, परलक्षी अथवा परावलबन युक्त होती है। उसमे बंध का सद्भाव है ही—भले ही शुभ बंध हो। वदन वैयावृत्यादि प्रवृत्ति भी परावलबन युक्त है, किंतु यदि वह अन्य अनन्त परावलंबन से बचकर स्वावलंबन के लक्ष से युक्त हो, तो निवृत्ति साधक ही कही जायगी। प्रवृत्ति मे भी लक्ष की भिन्नता होती है। एक प्रभु-भक्ति करता है—लौकिक कामना से, और दूसरा करता है प्रभु की प्रभुता (गुणो) को अपनी आत्मा मे जगाने के लिए। भक्ति मे समानता होते हुए भी ध्येय मे कितना महान् अंतर है ? हमे एकातवादी बनकर उत्तम प्रवृत्ति (वंदन, वैयावृत्य स्वाध्यायादि) को छोडना नही है, अपनाना है, परन्तु इनका ध्येय निवृत्ति साधक ही होना चाहिए।

सोचिए, सिद्ध भगवंत किसे वंदन करते हैं ? किसकी वैयावृत्य करते हैं ? सर्वज्ञ हो जाने पर स्वाध्याय की भी क्या जरूरत ? ये सब प्रवृत्तिएँ पहले ही छूट जाती है न ? जब आप को भी वह स्थिति प्राप्त करनी है, तो उसकी श्रद्धा तो करनी ही होगी, अर्थात् निवृत्ति का ही लक्ष रखना होगा। निवृत्ति ही धर्म है और जो निवृत्ति के लक्ष की ओर बढ़ावे,

वह प्रवृत्ति भी धर्म हो सकती है। निवृत्ति से ही आत्मा उन्नत होती है अथवा यो कहिए कि ज्यो-ज्यो निवृत्ति बढती है, त्यो-त्यो गुणो का विकास होता है। मिथ्यात्व की निवृत्ति होती है तब चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है और अविरति टलने पर पाँचवा और छठा गुणस्थान प्राप्त होता है। प्रमाद की निवृत्ति सातवाँ गुणस्थान, कषाय की बादरनिवृत्ति से सूक्ष्म संपराय तक की निवृत्ति क्रमश ८ वे से १० वाँ गुणस्थान, मोह निवृत्ति १२ वाँ गुणस्थान, ज्ञानावरणादि की आत्यतिक निवृत्ति १३ वाँ गुणस्थान और योग-निवृत्ति १४ वा गुणस्थान। यहाँ निवृत्ति की पराकाष्ठा है। मन वचन और काया की सर्वथा निवृत्ति यही होती है और पूर्ण रूप से सवर होता है। इस प्रकार की स्थिति प्राप्त होने पर ही सादि अनन्त (शाश्वत) सुख प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार सिद्ध है कि धर्म, निवृत्ति प्रधान ही है और ध्येय भी यही होना चाहिए। किंतु आजकल के कुछ विद्वान् कहे जानेवाले व्यक्ति, धर्म के इस रूप को झुठलाकर धर्म को प्रवृत्ति प्रधान कहने की धृष्टता करते है। जान बूझकर धर्म का स्वरूप बिगाडते हैं, अपलाप करते हैं। यह भी मिथ्यात्व का परिणाम है। धर्म के वास्तविक रूप को दबाकर अन्यथा प्ररूपणा करना=धर्म को अधर्म बतलाना मिथ्यात्व ही है। इस मिथ्यात्व से सदैव दूर ही रहना चाहिए।

३ कुमार्ग को सुमार्ग समझना

जिस मार्ग से संसार का परिभ्रमण बढे, जन्म मरण और दु.ख की परम्परा चले, वह कुमार्ग है। ऐसे कुमार्ग को

सुमार्ग समझना भी मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वी देव गुरु की मान्यता, देव या धर्म के नाम पर प्राणियो की हत्या–बलिदान–कुरबानी, काफिरो अथवा अनार्यों का हनन आदि अविरति, क्रोधादि कषाय और पाँच इन्द्रियो का पोषण, ये सब ससार परिभ्रमण करने के मार्ग हैं। स्त्रियो के साथ नृत्य करना, ऋतुदान, कन्यादान और तीर्थ-स्नानादि अनेक प्रकार की पापजन्य–ससार-वर्द्धक क्रियाओ को सन्मार्ग मानना मिथ्या मान्यता है।

साधना, साध्य की सिद्धि के लिये ही की जाती है। जब साधक यह मानता है कि–'साध्य मुझ से दूर है, साध्य तक पहुँचने के लिये मुझे उस दूरी को पार करना ही होगा, तब वह उस दिशा मे आगे बढता है। यदि वह साध्य के अनुकूल मार्ग पर चले, तो सुमार्ग है और उल्टे या तिर्छे रास्ते से चले, तो वह कुमार्ग है। साध्य के अनुकूल चलना सुमार्ग है और साध्य के विपरीत मार्ग पर चलना कुमार्ग है। चलता तो सारा ससार है, अनादिकाल से जीव चलता ही आया है, उसका मार्ग कभी समाप्त हुआ ही नही। सिद्ध के अतिरिक्त कोई स्थिर नही है, संसारी जीव चलते ही रहते हैं। किंतु अधिकाश जीव ससार की ओर ही चलते है। एक बन्धन से छूटने के पूर्व ही दूसरे बन्धन की सामग्री तय्यार कर लेते है। कभी ऊँचा (स्वर्ग मे) कभी नीचा (नर्क मे) और कभी तिर्छा (तिर्यंचादि मे), इस प्रकार भव-भ्रमण का मार्ग ही अपनाता है। शुभ कर्म करके स्वर्ग मे जाना भी संसार परिभ्रमण ही है। संसार के लक्ष से जो भी क्रिया की जाती है, वह संसार को ही बढाती है और

मुक्ति का लक्ष होने पर भी उसके सही मार्ग की तथा सदुपाय की ठीक जानकारी नही होने पर वह भी संसार का कारण बनती है। क्योकि मार्ग गलत है–कुमार्ग है। बम्बई जाने का लक्ष होते हुए भी यदि बम्बई की दिशा मे नही चलकर,उल्टे या अगल बगल का रास्ता अपनाया जाय, तो वह कुमार्ग ही होगा और कुमार्ग का आश्रय लेना मिथ्यात्व ही है। कुमार्ग से ईष्ट प्राप्ति नही हो सकती। अतएव कुमार्ग का स्वीकार भी मिथ्यात्व ही है।

ससार मे दो प्रकार के जीव है। एक तो प्रारम्भ से ही कुमार्ग मे लगे हुए हैं और दूसरे प्रकार के जीव, पहले तो सन्मार्ग मे चलते है, किंतु बाद मे मति-भ्रम से या किसी के बहकाने से सद्मार्ग को छोडकर कुमार्ग मे लग जाते हैं। जैन श्रमण वर्ग मे कई ऐसे भी है, जो पहले मोक्षमार्ग मे दीक्षित हुए और कुछ चले भी, किंतु बाद मे कुशिक्षण, कुसगति अथवा लोकैषणा मे पडकर सुमार्ग से हट गये। उनकी शक्ति कुमार्ग के प्रचार मे लगने लगी। वे दूसरे साधु साध्वी और हजारो लाखो उपासक वर्ग को कुमार्ग मे घसीट गए।

बन्धन का मार्ग ही कुमार्ग है–संसार मार्ग है। इसके अनेक भेद है। कुछ तो निरे अधोगति–नरक तिर्यंच गति की ओर ही ले जाने वाले है और कुछ लौकिक दृष्टि से सदाचार पालन तथा जनसेवा और अज्ञान कष्ट आदि से, देव मनुष्य गति के योग्य बन्धन का उपार्जन कराते हैं। चाहे नरक तिर्यंच गति के हो या फिर मनुष्य और देवगति के ही हो, है दोनो ही

बंधन। मुक्ति तो बन्ध विच्छेद और निर्जरा से ही है। मुक्ति की दृष्टि से बन्ध मात्र हेय है। जन्म-मरण की परम्परा वाला मार्ग, सुमार्ग नही हो सकता। जिस मार्ग से मृत्युजय पद की प्राप्ति (बन्ध का नाश) होता हो, वही सुमार्ग है–निर्वाण मार्ग है। इसके अतिरिक्त सब संसार मार्ग है।

जिन्हे सद्भाग्य से या क्षयोपशम के बल से मोक्ष मार्ग प्राप्त हो गया, उनमे से कुछ ऐसे उन्मार्गी भी निकले है, जो संसार मार्ग के प्रचारक बन गये हैं। रजोहरण मुखवस्त्रिका रखते हुए भी वे मिथ्यात्व के पात्र वन गये हैं। कोई ग्रामोद्योग रूपी आरम्भ समारम्भ के प्रचारक बन गये हैं, तो कोई स्त्रियो की ओर आकर्षित होकर उनके स्वाच्छन्द्य के पोषक वन रहे है। तात्पर्य यह कि संसार मार्ग की रुचि के कारण वे मुक्ति मार्ग से गिर गये हैं।

सम्यग्-दृष्टि जीवो को चाहिए कि वे कुमार्ग को दुख दायक जानकर उससे दूर ही रहे और आत्म स्वातन्त्र्य (जड के बन्धनो से मुक्ति) दिलाने वाले ऐसे जिनेश्वरो के धर्म मे अत्यन्त आदरवाले बनकर भव-बन्धनो का छेदन करने मे उद्यमवत होवे।

४ सुमार्ग को कुमार्ग मानना

जिस प्रकार कुमार्ग को सुमार्ग मानना मिथ्यात्व है, उसी प्रकार सन्मार्ग को कुमार्ग अथवा मोक्ष-मार्ग को संसार मार्ग मानना भी मिथ्यात्व है। संसार मार्ग तो अनेक है, अगणित हैं और मुक्ति मार्ग केवल एक ही है। जो मार्ग, जीवो को रोग, शोक,

जन्म, जरा, और मृत्यु के दुःखो से सदा के लिए छुडा दे, जो पुद्गल की पकड से मुक्त करके सर्व तन्त्र स्वतन्त्र कर दे, जिसकी आराधना से अखण्ड, अपूर्व, अनुपम और सादिअनन्त-शाश्वत सुखो की प्राप्ति होती हो, वही सुमार्ग है। ऐसे निर्दोष मार्ग को परम वीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवंत ही बता सकते है। सरागी और छद्मस्थ जीव, ऐसे मार्ग को, जिनेश्वरो के उपदेश से ही जान सकता है, स्वतन्त्र रूप से नही जान सकता। जिनेश्वरो का बताया हुआ मोक्ष-मार्ग, सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र है, अपूर्व है। जीवों के भेद-प्रभेद उनकी विभिन्नता का कारण, सुविस्तृत कर्म-सिद्धात, आत्मा का स्वरूप, बन्ध के कारण, मुक्ति के उपाय, आत्मा के विकास के अनुसार गुण-श्रेणी, उपशम और क्षपक-श्रेणी का स्वरूप, कर्म क्षय से प्रकट होने वाली आत्मा की अनन्त ज्ञानादि शक्ति का स्वरूप इत्यादि विषयो का प्रतिपादन, ये जिन-प्रवचन मे सर्वथा अजोड है। बन्ध-मुक्ति के उपायो मे जो वैज्ञानिक पद्धति है, वह सम्यग् विचारवालो के शीघ्र ही समझ मे आ सकती है। जिनेन्द्र भगवान् का उपासक, जिनेश्वरों के उपदेश से जानता है कि—'यह जीव, पुद्गल-पक्षी होने से ही अनादिकाल से बन्ध-परम्परा मे उलझता हुआ दुखी हो रहा है। पुद्गल प्रेम ही दुःख का कारण है और इसकी इच्छा का निरोध, मुक्ति का कारण है। विषय कषाय की स्थिति, पर-लक्ष के कारण ही है। जितनी मात्रा में पर-लक्ष छूटेगा, उतनी मात्रा मे मनुष्य पवित्र होता जायगा। जिन-धर्म ने विरति का उपदेश इसीलिये दिया कि जिससे आत्मा, पुद्गल की कैद

से आजाद हो जाय।

आत्मा, जड़ के लक्ष से—पुद्गल की संगति से, पर मे सुख की आशा लगाकर, जड़ बन्धनो मे बधा है—पराधीन हुआ है, पुद्गल के अधिकार मे पड गया है। इस पराधीनता से मुक्त होने का मार्ग, एक मात्र आत्म लक्ष से की हुई सद् प्रवृत्ति ही है। पौद्गलिक लक्ष बधनो को बढाता है और आत्म लक्ष मुक्त करता है। जिसे मुक्ति की अभिलाषा है, उसे बंधच्छेद का मार्ग ही अपनाना पडेगा और वह मार्ग, संवर-निर्जरा से भिन्न नही हो सकता। संवर,बंधनो की वृद्धि को रोक देता है और निर्जरा, पूर्व बंधनो को काटती रहती है। इन दोनो चरणों से मोक्ष-मार्ग पर चलनेवाला,मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। यही सुमार्ग है। यही त्रिकाल अबाधित मोक्ष मार्ग है। गत अनादि काल मे जिन अनन्त जीवो की मुक्ति हुई है, वह इसी सुमार्ग से हुई है। वर्त्तमान मे भी यही मार्ग है और भविष्य मे भी अनन्त जीव इसी मार्ग पर चलकर मुक्त होगे। इसके सिवाय अन्य कोई उत्तम मार्ग नही है। यह त्रिकाल सत्य मार्ग है। समय का परिवर्तन अथवा जमाने की हवा या जनमत, इस सिद्धि-मार्ग को पलट नही सकते। संसार मे ऐसी कोई भी हस्ती नही जो 'बन्ध' तत्त्व की आराधना से मुक्ति दिला सके। जब धर्म पर जमाने का असर होता है, तो मुक्ति बन्द हो जाती है, मुक्ति मार्ग भी (भरतादि मे छठे आदि आरे मे) बंद हो जाता है, परंतु जमाने का असर मुक्ति मार्ग को ही पलट दे—ऐसा कभी नही हो सकता।

यो तो कषाय के त्याग का उपदेश, अजैन परपरा मे से साख्य, बौद्ध आदि मे भी दिया है और कोई कोई उसका कुछ पालन भी करते है। अनन्तानुबधी के सद्‌भाव मे, उनकी पतली कषाये, उन्हे स्वर्ग मे पहुँचा सकती है किंतु मुक्ति नही दे सकती। प्रथम गुणस्थान मे तीनो शुभ लेश्याएँ है, शुक्ल लेश्या भी है, और सयोगी जिनेश्वरो मे भी शुक्ल लेश्या है, लेकिन दोनो मे आकाश पाताल का अन्तर है। एक जन्म मरण के चक्कर मे उलझा हुआ है, उनमे से कोई अभव्य भी है, और दूसरे परम वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी है, जिन्होने जन्म के बीज को ही नष्ट कर दिया है। वे शीघ्र ही मृत्युजयी होने वाले है। उन परम वीतरागी भगवन्तो ने मुक्ति का मार्ग बताते हुए कहा कि–'पहले अनंतानुबधी और दर्शनत्रिक को नष्ट करो। इसके बाद तुम्हारा त्याग, तप और विरति तुम्हे आत्मा से परमात्मा बनने मे सहायक होगी। इसके बिना तुम्हारी मुक्ति कदापि नही हो सकेगी।

सम्यग्दर्शन और सम्यग् ज्ञान होने के बाद ही विरती, मोक्ष साधक हो सकती है। मोक्ष साधना मे सर्व प्रथम सम्यग्-दर्शन की आवश्यकता है। उसके बाद विरति अप्रमत्तता आदि की। सम्यग्दर्शन परंपरा कारण है और सयम, तप अप्रमत्ततादि साक्षात् कारण है। यही मोक्ष मार्ग है। यही सुमार्ग है। इस सुमार्ग को जैनेतर लोग, कुमार्ग–कायरो का मार्ग कहते हैं। कुछ जैन नामधारी भी सयम साधना को 'जड क्रिया' कहते हैं और उपासको को ससार मार्ग की ओर आकर्षित करते है। कोई कोई

साधुवेशधारी अपने व्याख्यानो और लेखो में इस सुमार्ग के प्रति अरुचि उत्पन्न कर, नगद धर्म (लोक सेवा रूप संसार मार्ग) की प्रशंसा करते हैं। वे सन्मार्ग का लोप करके महामोहनीय कर्म का बंध करते हैं।

वास्तव मे एक-मात्र जिनेश्वरो का मार्ग ही सुमार्ग है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३ मे गणधर भगवान् श्री गौतम-स्वामीजी फरमाते हैं कि—

"कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे।"

उपरोक्त आगम मे उन्मार्ग और सन्मार्ग का स्पष्ट रूप से खुलासा कर दिया गया है। सम्यग्दृष्टि जीवो को इस पर पूर्ण विश्वास करके, उन्मार्ग से दूर रहकर, सन्मार्ग की श्रद्धा करनी चाहिये। इसीसे वे मिथ्यात्व से वंचित रह सकेगे।

५ अजीव को जीव मानना

धर्म, अधर्म और सुमार्ग कुमार्ग का भेद जानकर, धर्म और सुमार्ग की श्रद्धा हो जाने के बाद, जीव अजीव का सही ज्ञान होना भी आवश्यक है। संसार में मुख्यत. दो ही तत्त्व हैं— १ जीव और २ अजीव। इन दो तत्त्वो का विस्तार ही नव तत्त्व है। छ. द्रव्यो मे जीवास्तिकाय के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अजीव ही हैं। इन पांचो मे से चार तो अरूपी—अदृश्य हैं, इनमें दृश्यता के गुण—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श नही है और पुद्गलास्तिकाय रूपी है—दिखाई देने वाला है। उसमे शब्द,

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श है, अर्थात् सुनाई देने वाला शब्द, दिखाई देने वाला वर्ण (रूप) सूघने मे आनेवाली गंध, जिव्हा द्वारा चखे जानेवाले रस और हाथ आदि शरीर से छुए जाने वाले स्पर्श, ये सब पुद्गल–जड के लक्षण हैं। धूप, अन्धकार, प्रकाश, छाया आदि भी अजीव के ही लक्षण है। दृश्यमान् पुद्-गल पदार्थ मे भी अनन्त द्रव्य ऐसे है कि जो हमारे जैसे चर्म-चक्षु वालो को दिखाई नही देते। जो सूक्ष्म अर्थात् बहुत बारीक पुद्गल (परमाणु, सख्यात और असख्यात प्रदेशवाले) हैं, वे तो हमारे देखने मे आते ही नही और अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य भी हमे सभी दिखाई नही देते, किंतु उनमे से कुछ ही दिखाई देते है। वायु, गध, शब्द आदि रूपी अजीव द्रव्य है और इन्हे हम जानते हैं, किंतु आखो से इनका रूप नही देख सकते, क्योंकि हमारी आखे मर्यादा के अनुसार ही वस्तु को देख सकती है।

दिखाई देने वाली सभी वस्तुएँ अजीव ही है, उनमे से बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं कि जिनमे जीव का निवास है। जैसे–मिट्टी, पत्थर, पानी, वृक्ष, लता, फल, पुष्प, बीज, अग्नि, कीट, पतंग, कीडे-मकोडे, पशु, पक्षी और मनुष्य आदि। इनके सब के शरीर तो अजीव हैं, किंतु अजीव शरीरो मे जीव निवास करता है, इसलिए उसे भी 'जीव' कहते है।

दृश्यमान वस्तुएँ निरी अजीव भी हैं, जैसे कागज, कलम, थाली, लोटादि धातु-पात्र, मेज, कुर्सी, चित्र, मूर्ति, घर, मकान, सोना, चाँदी, रुपया, पैसा, वस्त्र, आदि। इन सब को जीव मानना; अथवा सबको एक ईश्वर के ही भिन्न भिन्न रूप समझना गलत

है। क्योकि ये सब अजीव है—जड़ है। इनमे आत्मा के गुण नही है। पहले कभी आत्मा ने इनमे निवास किया था, किंतु वर्तमान मे तो ये जड ही हैं। इन्हे मिश्र-परिणत पुद्गल कह सकते है। ये मुर्दा शरीर की तरह अजीव ही हैं। इन वस्तुओ को जीव मानना और इनके साथ जीव का व्यवहार करना भी मिथ्यात्व है।

कुछ लोग,अजीव मे जीव की बुद्धि करके उसे वंदनादि करते हैं और उस अजीव के लिए अनेक प्रकार के आरम्भ करते हैं। कई अज्ञानी जीव, देहभाव मे इतने रचे रहते हैं कि उन्हें अपने आत्म-द्रव्य (अपनत्व) का ज्ञान ही नही होता। जड देह के दुर्बल, रोगी और विनाश से अपना विनाश मानते है। जैसे राज-पुरोहित भृगु, अपने विरक्त पुत्रो से कहता हैं कि—

"जहा य अग्गी अरणी असंतो,
खीरे घयं तेल्लमहातिलेसु।
एमेव जाया सरीरंसि सत्ता,
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥१८॥ उत्तरा० १४

—पुत्रो ! जिस प्रकार अरणि मे अग्नि, दूध मे घी और तिल मे तेल दिखाई नही देने पर भी संयोग से स्वत. उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शरीर मे जीव स्वत. उत्पन्न होता है और शरीर के विनाश से जीव का भी नाश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा भी शरीर की उत्पत्ति के साथ, उसी मे उत्पन्न हो जाता है। यह शरीर की ही एक शक्ति है जो शरीर के साथ ही

विनष्ट हो जाती है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा है ही नही। इस प्रकार की मान्यता 'तज्जीवतच्छरीरवादी' मत की है। भूतवादी पाँचभूतो को ही सब कुछ मानता है। इस प्रकार अजीव को ही सब कुछ मान कर आत्मा को भिन्न तत्त्व नही मानना या अजीव को ही जीव मानना मिथ्यात्व है। इस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रसित आत्मा, यदि सदाचार का पालन करती है, तो वह भी केवल ससार मे शाति, सभ्यता, न्याय, नीति और सहयोग कायम रहे, इसी उद्देश्य से।

कुछ लोग भद्रपरिणामी, प्रकृति के शात, कोमल और सरल होते है। वे विनीत और नम्र होकर सब को प्रणाम करते हैं। चाहे कौआ हो या कुत्ता, बिल्ली हो या चूहा, अथवा पत्थर ईंट और लकडी ही हो, सबको प्रणाम करना उनका व्रत होता है। वे सद्गुणी दुर्गुणी का भेद नही करते। माता को भी प्रणाम और वेश्या को भी प्रणाम, महात्मा को भी नमस्कार और कसाई को भी नमस्कार। इस प्रकार सबके प्रति शुभ भाव रखनेवाले तामली तापस की तरह (भगवती ३-३) भक्तिमार्गी होते हैं। उनके परिणाम शुभ होते हुए भी उन्हे विवेकशील नही कह सकते और उनकी गणना भी 'विनयवादी-मिथ्यादृष्टि' मे होती है। उनकी भद्रपरिणति और सरलता, उन्हे शुभ कर्म के उपार्जन मे सहायक हो सकती है और उससे वे दैविक सुख प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि विशुद्ध नही हो सकती। जहा खलि और गुड समान हो, अजीव, पत्थर, लकड़ी और मृतिका मे भी जीव वुद्धि (देव बुद्धि) हो और महात्मा तथा

कसाई का भी भेद नही हो, वहा सम्यक्त्व कैसे हो सकती है ? जीवन की इच्छा से यदि कोई विष पीवे और उसमे अमृत की कल्पना करले, तो क्या विष अपना प्रभाव नही दिखायगा ? भावो की सरलता से मिथ्यात्व मिटकर सम्यक्त्व नही हो जाता, आखिर गलती तो गलती ही रहती है और उसका परिणाम भोगना पडता है ।

अनात्मवादी नास्तिक तो आत्मा को मानते ही नही, इसी तरह पुण्य पाप और स्वर्ग नरकादि भी नही मानते । यहा हम उनका जिक्र नही करते, हम यहा उन्ही मन्तव्यो को लेते है कि जो अजीव को जीव मानते हैं । जो जडशरीर को ही सच्चिदानन्द रूप मान कर इसीके पोषण रक्षण आदि मे लगे रहते हैं और आत्मा को उससे भिन्न नही मानते । जो आत्मा को शरीर से भिन्न नही माने, उनका धर्म अधर्म और ससार तथा मोक्ष मार्ग से सम्बन्ध ही क्या ? वे तो इनकी भी आवश्यकता नही मानेगे । धर्म अधर्म आदि की आवश्यकता उन्ही को है जो आत्मा को माने । उसे देहादि अजीव पदार्थ से भिन्न माने और स्वर्ग नर्क आदि की श्रद्धा भी रखे । अजीव को जीव मानने वाले की भूल मामूली नही है, भयकर भूल है ।

आजकल के वैज्ञानिक एवं चिकित्सा-शास्त्री, रोगो का कारण 'किटाणु' (जीव) मानते है । संभव है उनमे किटाणु भी हो और अजीव के बारीक कण (स्कन्ध) भी हो और उन अजीव कणो को भी वे किटाणु कहते हो । हवा मे जीव भी उड़ते हैं और रजकण आदि भी उड़ते है । सुगन्ध दुर्गन्ध के

पुद्गल भी उडते हैं। इसी प्रकार रोग मिश्रित वायु-श्वासादि भी फैलते हैं। उन सब को किटाणु (जीव) ही मान लेना तो भूल ही होगी।

जो विचारवान् मनुष्य, अन्य सत्य विचारो के साथ जीव को ही जीव मानते है, अजीव को जीव नही मानते, वे ही सम्यग्दृष्टि है और वे ही आत्मविकास साधकर मुक्ति पा सकते हैं।

६ जीव को अजीव मानना

संसार में कई प्रकार के लोग हैं। कई ऐसे भी हैं जो जलचर-मगर-मच्छ मे जीव नही मानकर अजीव मानते हैं और उन्हे मनुष्य का खाद्य-पदार्थ कहते हैं। उनसे भी अधिक संख्या ऐसी है जो अंडो मे जीव नही मानती, और ऐसी संख्या तो सर्वाधिक है कि जो पृथिव्यादि स्थावरकाय मे जीव का अस्तित्व ही स्वीकार नही करते हैं। ऐसे कई धर्म-सम्प्रदाय कहलाते हैं, जो जलाशयो मे नहाने मे धर्म मानते हैं और पुष्प फलादि, देव के अर्पण करने तथा तपस्या मे फलाहार करने मे धर्म मानते हैं। यदि वे समझते होते कि 'पानी और वनस्पति मे जीव है, इनकी हिंसा का त्याग करना धर्म है,' तो विवेक के सद्भाव मे इन जीवो की हिंसा करके धर्म होना नही मानते, बल्कि हिंसा से विरत होने मे ही धर्म मानते।

छ. द्रव्यो में जीव-द्रव्य, संग्रह नय से एक मानते हुए

भी जीव अनन्त है और इनके भेद भी अनेक है। कई चार ‡ प्राण वाले और कई छ से लेकर दस प्राण वाले है। जीव अरूपी है, वह दिखाई नही देता। दिखाई देनेवाला केवल शरीर है, जो अचित भी हो जाता है। जीव के अरूपी होने से ही नास्तिक लोग, उसका अस्तित्व नही मानते और 'पाँच भूतो के मिलने से बनी हुई शक्ति विशेष' ही मानकर, आत्म तत्त्व का निषेध करते है। इन भूतवादियो के मत से पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक और मोक्ष कुछ भी नही है। वे परलोक नही मानते। उनका सिद्धात है कि "खूब खाओ, खूब पीयो, खूब ऐश-आराम करो। यदि अपने पास पैसा नही हो, तो कर्ज करके भी खाओ, क्योकि जीवन का सार ही खाना-पीना और मौज करना है। मरने के वाद यह शरीर नष्ट होकर मिट्टी में मिल जानेवाला है। फिर पुण्य और पाप का फल भोगने वाला कोई नही रहता।" इस प्रकार जीव के अस्तित्व से इन्कार करनेवाला मत भी है और वर्त्तमान समय मे कई धर्म-निरपेक्ष लोग, स्वर्ग नरकादि की मान्यता पर विश्वास नही करने वाले, आत्मा के अस्तित्व के विषय मे भी अश्रद्धा रखते हैं। इनमे कुछ पठित जैनी नाम धराने वाले भी है। इसका मूल कारण दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय है। जिसके इस कर्म का क्षयोपशम होता है, वह तो अरूपी

---

‡ साधारण वनस्पतिकाय में चार प्राण भी पूरे नहीं होते। उनका जीवन इतना अल्प होता है कि कोई श्वास लेता है, तो नि.श्वास नहीं ले पाता और कोई नि श्वास लेता है, तो उच्छ्वास नहीं ले पाता और उसके पूर्व ही मर जाता है। इस प्रकार उनके चार प्राण भी पूरे नहीं हो पाते।

आत्मा को भी रूपी द्रव्य की तरह प्रत्यक्ष मानकर विश्वास करता है, किंतु मिथ्यात्व के उदय से, पढे-लिखे लोग, साधक युक्तियो के सद्भाव मे भी कुतर्क द्वारा जीव के प्रति अविश्वासी बनते है।

भगवान् महावीर के आद्य गणधर प्रातः-स्मरणीय श्रीगौतमस्वामीजी महाराज भी भगवान् से साक्षात् होने तक जीव के अस्तित्व के विषय मे शकाशील थे। यद्यपि वे जीव और स्वर्ग नरक के विषय मे प्रकट रूप से निश्चित मत व्यक्त करते थे, और स्वर्ग-कामना से यज्ञादि कराते थे, किंतु उनके हृदय मे शंका अवश्य थी। जीव के अस्तित्व के विषय मे निश्चय–विश्वास नही था। दूसरे गणधर श्री अग्नि-भूतिजी को कर्म मे शका थी। श्री वायुभूतिजी, शरीर और जीव की भिन्नता के विषय मे शंकाशील थे। इस प्रकार भगवान् से साक्षात् होने के पूर्व तक सभी गणधर शकाशील थे और इन्हे आत्मा की किसी एक अवस्था के विषय मे शंका थी। (विशेषावश्यक भाष्य) शंका का मूल कारण दर्शन-मोहनीय का उदय और आत्मा तथा उसकी विभिन्न अवस्था का अप्रत्यक्ष होना है। उन सरल आत्माओ का दर्शन-मोह नितान्त कमजोर होकर नष्ट होने के लगभग था। वे उन वस्तुओ का प्रत्यक्ष नही करते हुए भी भगवान् की पवित्र वाणी के निमित्त से दृढ श्रद्धालु बन गए। उनकी श्रद्धा इतनी दृढ हो गई कि जैसे उन्होने आत्मा का प्रत्यक्ष–साक्षात्कार कर लिया हो।

जीव का अस्तित्व माननेवाले अजैन मतावलम्बी, जीव

का स्वरूप ठीक तरह से नही जानते। भिन्न भिन्न अनन्त प्राणियो मे कोई केवल एक जीव–ब्रह्म ही मानते हैं, कोई शरीर मे केवल अंगुष्ठ प्रमाण जीव मानते हैं और कोई यव प्रमाण। यो अनेक प्रकार से जीव के अस्तित्व के विषय मे अज्ञान फैल रहा है।

सूयगड़ाग सूत्र के आर्द्रकीय अध्ययन मे एक ऐसे मत का वर्णन है, जो भावना के बहाने से आत्म-वंचना करते हुए कहता था कि 'यदि मनुष्य मे 'खलपिड' और बालक मे 'तुम्बी फल' की भावना करके उनको मार कर मास-भक्षण किया जाय, तो हत्या का पाप नही लगता।' इस प्रकार जीव के जीवत्व से (केवल आत्मवंचना पूर्वक) इन्कार करके उसमें अजीव की कल्पना करनेवाला मत भी संसार मे है।

जीव तत्त्व को नही माननेवाले अथवा गलत रूप से माननेवाले सम्यग्दृष्टि नही है। सम्यग्दृष्टि वही है, जो जीव का अस्तित्व माने। उसे सदाकाल शाश्वत माने। कर्म का कर्त्ता और भोक्ता माने। उपयोग लक्षणवाला माने और उचित उपायो द्वारा मोक्ष प्राप्ति होना भी माने। यह जीव की ही शक्ति है कि वह उल्टे प्रयत्न से नरक निगोद मे भी चला जाय और सुलटे प्रयत्न से स्वर्ग और मोक्ष भी पाले।

दस लक्षणो से जीव परिणाम जाना जाता है। जैसे–
१ गति परिणाम–भिन्न भिन्न गतियो मे जन्म लेना। जन्म और मृत्यु जीव की ही होती है, अजीव की नही, २ इन्द्रिय परिणाम–जीव का शरीर के साथ इन्द्रिय सम्पन्न होना। चाहे एक इन्द्री-

वाला हो या पूर्ण पाच इन्द्रियवाला। अजीव के इन्द्रियाँ नही होती। हा, जीव के छोड़ देने पर उस शरीर मे इन्द्रियो का आकार कायम रहता है। इन्द्रियो की प्राप्ति भी सकर्मक जीव को ही होती है, ३ कषाय परिणाम–क्रोध, मान, माया और लोभ, जीव मे ही होते हैं, अजीव मे नही, ४ लेश्या परिणाम–कषायो को बढानेवाली कृष्णादि ६ लेश्याएँ भी जीव के ही होती है, ५ योग परिणाम–मन, वाणी और शरीर का योग, जीव के ही होता है, अजीव के नही होता, ६ उपयोग परिणाम–विचार करना, अनुभव करना, मनन करना, ७ ज्ञान परिणाम–जानना, ८ दर्शन परिणाम–विश्वास करना, ९ चारित्र परिणाम–आचार प्रवृत्ति और १० वेद परिणाम–स्त्री, पुरुष और नपुसक सम्बन्धी भोग कामना। ये सब बाते जीव मे होती है, अजीव मे नही होती। इसलिये जीव का अस्तित्व मानना ही चाहिये। उपरोक्त परिणाम अवस्थानुसार व्यक्त अथवा अव्यक्तरूप से सभी ससारी जीवो मे होते है। जब कोई मनुष्य अथवा पशु पक्षी, चलना, फिरना, खाना, पीना और श्वासोच्छ्वास लेना बन्द कर देता है, तो हम मानते है कि यह मर गया है। यह मरना ही बताता है कि जब तक इसमे जीव का निवास था, तब तक वह उपरोक्त क्रियाएं करता था। अब इसमे जीव नही है। वनस्पति भी मरने के बाद सूख जाती है। पृथ्वी आदि मे भी परिवर्त्तन हो जाता है। इस प्रकार जीव के अस्तित्व मे विश्वास करने के अनेक हेतु हैं। इन पर ध्यान देकर हमे सम्यग् श्रद्धा सम्पन्न बनना चाहिये, जिससे हम मिथ्यात्व के प्रभाव से बच सके।

७ असाधु को साधु मानना

जिसमे साधुता के गुण नही हो, वे सभी असाधु=कुसाधु हैं। कुसाधु को साधु समझने से, वे ही परिणाम निकलते हैं, जो ठग को साहुकार समझने से निकलते है। कुसाधु स्वयं डूबते हैं और दूसरो को भी डुबोते हैं।

साधुता का वेश धारण करके लोगो को ठगने वाले, दुराचारी, कामी, क्रोधी और लालची तो असाधु है ही, किंतु ससार मे वे भी असाधु ही हैं जो अपनी अज्ञानता के कारण असाधुता का कार्य करते हुए भी साधु कहलाते है। उनमे से कई अभक्षपदार्थों का भक्षण करते हैं, भाग, तमाखू और गाजादि मादक द्रव्यो का सेवन करते है, चलने मे जिनकी निर्दोष प्रवृत्ति नही, वाणी जिनकी असत्य और कटुभाषण तथा उन्मार्ग-देशना से दूषित है, जिनके खानपान के निर्दोष नियम नही है, और जिनकी साधना अज्ञान मूलक है, वे सभी असाधु हैं।

कितने ही तो नाम-मात्र के साधु हैं, जो अपने को साधु बताते हुए भी गृहस्थ के समान हैं। वे वेश-मात्र से साधु हैं, किंतु आचरण से गृहस्थ की श्रेणी में ही आते हैं। उनके चाल-चलन अच्छे नही है। उनकी साधना, अप्रशस्त और ससार परंपरा को बढाने वाली है। कई देवमन्दिरो के आश्रय से अपना जीवन निर्वाह करनेवाले हैं। कई मानपूजा के चक्कर में पड़े है, तो कई दूसरो के मुहताज बने हुए हैं। कुसाधुओ के कारण धर्म बदनाम हुआ है और लोगो की दृष्टि मे घृणित नजर आने लगा है। लोग कहते हैं कि 'भारत में लाखो साधु हमारे लिए भारभूत हो रहे है', ऐसे असाधुओ से बचने के लिए 'भारत-

साधु समाज,' प्रमाणपत्र देने की व्यवस्था करने और राज्य की सहायता प्राप्त करने मे प्रयत्नशील है।

अजैन साधुओ का उद्देश्य और लक्ष भिन्न होने से हम उन्हे सम्यग्दृष्टि नही मानते, और असंयत अविरत एवं अप्रत्याख्यानी मानते है, क्योकि दृष्टिविष, आचार को भी दूषित कर देता है। दूषित विचार, चारित्र को बिगाड देता है। इसीलिए उग्र और विशुद्ध क्रिया होते हुए भी दृष्टि-विकार के कारण आगमकारो ने उनमे पाचो क्रिया मानी है। उनका त्याग, मोक्ष का कारणभूत नही होकर, संसार का ही कारण होता है। इसलिए उन्हे "अप्रत्याख्यानी" क्रिया लगना स्वीकार किया है (भगवती १--२) तथा उसकी समस्त साधना, जिनाज्ञा के बाहर होकर आराधना से वंचित माना है (उववाई)। तात्पर्य यह कि बिना ध्येय शुद्धि के थोडी या अधिक, मंद अथवा उग्र साधना भी निष्फल होती है--बंध का ही कारण होती है। अतएव विपरीत श्रद्धा के कारण जैनेतर मान्यता युक्त साधना को जैन सिद्धात , साधुता मे स्वीकार कही करता।

जैन साधु कहाते हुए भी जिनकी साधना दूषित है, जो साधुना के मूल ऐसे पाच महाव्रतो का सम्यग्रूप से पालन नहीं करते। जिनकी प्रवृत्ति मे स्थावर या त्रस जीवो की अहिंसा का विवेक नही है, जो प्रकट या अप्रकट रूप से आरंभ जनक कार्य करते और करवाते हैं, तथा आरंभ के कार्यों की अनुमोदना करते हैं, ऐसे कार्य यदि धर्म के नाम पर हो, या परोपकार अथवा लोक-सेवा के नाम पर हो, तो भी वे परमार्थ-सेवी--अना-

रंभी मुनियो के योग्य नही है और ऐसे कार्य करने करानेवाले साधु नही, परन्तु असाधु हैं।

सुसाधु के वेश मे रहते हुए भी वे असाधु (पाप श्रमण) है, जो सुन्दर और भव्य उपाश्रय, मुलायम एव शोभनिक वस्त्र तथा मनाज्ञ आहारादि मे आसक्त हो और ज्ञान ध्यान तथा संयम को भुलाकर, आलसी होकर पडे रहते हो। जो प्राणियो की यतना नही करते, उपकरणो की प्रतिलेखना नही करते अथवा अविधि से करते हैं, अपने उपकरणो को अव्यवस्थित रूप से इधर उधर पटकते रहते हैं, इर्यादि पांचो समिति के पालन मे बेपरवाही करते हैं, विकथा करते रहते हैं, जिनके उपदेश का लक्ष श्रोताओ का मनोरजन करना होता है, जो माया का सेवन करते हैं, अभिमान करते हैं, जिनका आचरण अविश्वास-जनक है, जो शान्त हुए विवाद को पुन पुनः जगाकर झगड़ा करते कराते हैं, जो रसलोलुप होकर मनोज्ञ आहार के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, घृत, दुग्ध, दही आदि विगयो का बारबार सेवन करते है, सूर्योदय से लगाकर सूर्यास्त तक खाते रहते हैं और आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार पानी आदि का सेवन करते हैं, वे सभी पापश्रमण हैं।

चारित्र धर्म का बराबर पालन नही करते हुए भी जो अपने को शुद्धाचारी, तपस्वी तथा उत्तम साधु बतलाते हैं, वे वास्तव मे असाधु हैं।

आगमो में पाच प्रकार के असाधु=कुशीलियो का वर्णन है, जो अपने को सुसाधु बतलाते हैं, किंतु वास्तव मे वे कुसाधु

ही हैं। उनका सक्षेप मे परिचय इस प्रकार है,—

पासत्थ—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के समीप रहकर भी उनका आचरण नही करते और कर्म निर्जरा करने के बदले उलटे कर्मों के पाश मे, विशेष रूप से बन्धते जाते हैं। इनमे से देशपासत्थ वे हैं—जो शय्यातरपिंड नित्यपिंड, राजपिंड, अग्रपिंड और जीमनवार आदि दूषित आहारादि लेते हैं और शरीर की शोभा बढाते हैं। और सर्व-पासत्थ वे है—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र का पालन नही करते हुए मिथ्यात्व को अपनाये हुए केवल वेशधारी ही हैं।

यथाच्छन्द—जिन्होने श्रमण-समाचारी और आगम-आज्ञा की उपेक्षा करदी और स्वच्छन्दाचारी बन गये। ऐसे स्वच्छन्दाचारी, अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हैं। सासारिक कार्यों मे प्रवृत्ति करते हुए और उत्तम आचार का लोप करते हुए, वे अपने कुतर्क से, विशुद्ध आचार मे दोष दिखाते हैं। वे क्रोधी, घमडी और सुखशीलिए अपने दुराचार का बचाव करने के लिए उत्सूत्र प्ररूपणा करते है। मर्यादा बाहर होकर स्त्रियो और साध्वियो से विशेष सम्पर्क रखते हैं।

कुशील—जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार का पालन नही करके विराधना करते रहते हैं। मन्त्र,तन्त्र, ज्योतिष और वैद्यक तथा कौतुक आदि दूषित क्रिया करके आजीविका करते हैं।

अवसन्न—संयम से थके हुए, आलसी बनकर जो प्रतिक्रमणादि नही करते, यदि करते हैं, तो वह भी अविधि से,

असमय मे, अथवा न्यूयाधिक करते हैं। इसी प्रकार स्वाध्यायादि भी नही करते या अकाल मे करते हैं। आवश्यकी नैषेधिकी आदि समाचारी के पालन मे बेदरकार रहते है और अनेषणीय आहारादि लेते हैं। उनके पीठ-फलक की ठीक प्रतिलेखना नही होती, उनके बिस्तर बिछे ही रहते है। इस प्रकार अनेक दोषों के पात्र अवमन्न साधु भी असाधु हैं।

संसक्त—विषयो मे आसक्त, पाचो प्रकार के आश्रव मे प्रवृत्ति करनेवाले, तीन प्रकार के गारव से युक्त, गृहस्थो से अति परिचय रखने वाले और उपरोक्त चारो प्रकार के कुशीलियो की सगति करनेवाले, तथा जिनके मूलगुण और उत्तरगुण मे सभी प्रकार के दोष लगते हो—ऐसे मिश्र परिणाम वाले साधु भी असाधु है।

निर्ग्रंथ मुनिराज अनाथीजी ने मगध के अधिपति श्रेणिक को कहा था कि 'राजन्! निर्ग्रंथ धर्म प्राप्त करके भी बहुत से लोग कायरता अपना कर ढीले पड जाते हैं। इन्द्रियो के वशीभूत होकर वे स्वाद मे आसक्त हो जाते हैं और स्वीकृत महाव्रतो को भंग कर देते हैं। इर्यादि समितियो के पालन करने मे उनकी रुचि नही रहती। लबे समय से मुण्डित होकर भी वे थके हुए राही की तरह तप और नियम रूपी मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार खाली-मुट्ठी और खोटा-सिक्का किसी काम का नही होता और काँच का टुकड़ा भी रत्न के गाहक के लिए नि सार होकर फेंकने योग्य है, उसी प्रकार चारित्रहीन वेशधारी साधु भी त्यागनीय है, क्योकि वे वीर

के मार्ग से बहिष्कृत है–**"न वीरजायं अणुजाइ मग्गं"** ।

जो साधुता का वेश धारण करके उसके द्वारा पेट भराई करते है, स्वप्न-फल और सामुद्रिक लक्षण बतलाते हैं और ज्योतिषादि द्वारा लोगो मे आश्चर्य उत्पन्न करके कर्म बन्धन को बढाते हुए जीवन निर्वाह करते हैं, इस प्रकार असाधु होते हुए भी जो अपने को साधु बतलाते है, वे दुर्गति को प्राप्त होकर अनेक प्रकार के दु.ख भोगेंगे ।

जो परमार्थ (मोक्ष) मे विपरीत भाव रखते है, उनकी संयम रुचि भी व्यर्थ है, क्योकि उनका संयम भी ससार मे रुलाने वाला ही होता है ।

ऐसे असाधु लोग, विशुद्ध साधु सस्था के लिए बडे घातक होते है । वे सोना मढे हुए उस लोहे के समान है, जिस-पर विश्वास करके भोले लोग ठगे जाते है । लोगो को जितना खतरा विशुद्ध लोहे से नही होता, उतना स्वर्ण-मढित लोहे से होता है । अनजान लोग ऊपर से सोने का आभास पाकर ठगे जाते है । घर मे रहे हुए धन को, जितना खतरा, घर के चोर अथवा भेदिये का होता है, उतना बाहर के अनजान से नही होता । इसी प्रकार निर्ग्रंथ संस्कृति को जितनी हानि दूसरे असाधुओ से नही हुई, उतनी निर्ग्रंथ साधु का वेश धारण करने वाले असाधुओ से हुई । जिनधर्म का अधिक अनिष्ट ऐसे ही असाधुओ से हुआ है ।

मध्ययुग मे भगवान् महावीर के वंशज-साधुओं की जीवन-चर्या बहुत बिगड़ गई थी । वे भगवान् के साधु कहाते

हुए भी असाधुता के कार्य करते थे। उनकी असाधुता का वर्णन श्रीहरीभद्रसूरिजी ने 'सबोधप्रकरण' मे इस प्रकार किया है,—

"ये साधु नामधारी लोग, चैत्यो और मठो मे रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं, अपने लिये देवद्रव्य का उपयोग करते हैं, जैनमदिर और शाला बनवाते हैं, मुहूर्त बतलाते है, ज्योतिष निमित्त बतलाते है, भभूति डालते है, विविध रंग के सुगंधित तथा धूप से सुवासित किये हुए वस्त्र पहनते हैं, स्त्रियो के समक्ष गाते हैं, साध्वियो का लाया हुआ आहारादि लेते है, तीर्थ के पण्डो की तरह धन का संचय करते हैं, दिन मे दो और तीन वार खाते हैं, ताम्बूलादि खाते हैं, घृत-दूग्धादि स्निग्ध पदार्थों के प्रेमी हैं, फल खाते और सचित्त पानी पीते हैं, सामूहिक भोजनो (जीमणवार) के प्रसंग के मिष्ठान्न लेते हैं, आहार के लिए खुशामद करते हैं और यदि कोई सत्य-धर्म के विषय मे पूछे तो नही बतलाते है।" आदि

"सूर्योदय होते ही उनका खानपान प्रारम्भ हो जाता है, वे बारबार खाते हैं, लोच नही करते हैं, शरीर का मेल दूर करते हैं, भिक्षु की प्रतिमा को धारण करते हुए शरमाते हैं, पावो मे पहनने के लिए जूते रखते हैं, स्वत. भ्रष्ट होते हुए दूसरो को आलोचना करवाते है प्रतिलेखना नही करते है, वस्त्र, शय्या, उपानह, वाहन, आयुध और ताम्र आदि के पत्र रखते है, स्नान करते हैं, तेल की मालीश करते हैं, शृंगार सजते हैं, इत्र फुलेल लगाते हैं। 'अमुक गाँव मेरा, अमुक कुल मेरा'—इस प्रकार ममत्व भाव रखते हैं। स्त्रियो से अति परिचय रखते हैं। वे

मृतक कार्य प्रसंग पर जिनपूजा करने का और मृतक का धन जिनदान मे देने का कहते है, पैसे के लिए अगादि सूत्र श्रावको को सुनाते है। शाला मे अथवा गृहस्थ के घर मे खाजा आदि का पाक करवाते है, नाँद मँडवाते है, अपने हीनाचारी मृत गुरुओ के दाहस्थल पर चवूतरे वनवाते हैं, बलि करते है, उनके व्याख्यान मे स्त्रिये उनका गुणगान करती है. मात्र स्त्रियो के सामने भी वे व्याख्यान देते है और साध्विये मात्र पुरुषो के समक्ष व्याख्यान देती है। वे भिक्षा के लिए नही फिरते है अर्थात् अपने स्थान पर ही आहार मँगवा लेते है। वे साधुओ की मडली मे वैठकर भी भोजन नही करते, सारी रात वे सोते ही रहते हैं, गुणवानो से द्वेष करते है, वस्तुओ की खरीदी करते हैं और वेचते हैं, प्रवचन के वहाने वे विकथा करते हैं। छोटे वच्चो को वे चेला वनाने के लिए पैसे देकर खरीदते है। भोले लोगो को ठगते हैं, वे जिन प्रतिमा को वेचते है और खरीदते हैं। वे उच्चाटनादि क्रिया, वैद्यक और मन्त्रादि करते हैं, डोरे धागे भी करते है, शासन-प्रभावना के वहाने लडाई झगडे करते हैं, सुविहित साधुओ के पास श्रावको को जाने से रोकते है, शाप देने का भय दिखाते है, धन देकर अयोग्य शिष्यो को खरीदते हैं, कर्ज देते हैं और व्याज सहित वसूल करते है, अशास्त्रीय अनुष्ठान मे प्रभावना होना वतलाते हैं, प्रवचन मे जिनकी विधि या उल्लेख नही है—ऐसे तप की प्ररूपणा करके उसके उजमणे करवाते है, अपने लिए वस्त्र पात्र उपकरणो और द्रव्य, अपने गृहस्थो के यहा संग्रह करवाते है। व्याख्यान सुनाकर

गृहस्थो से धन लेने की इच्छा रखते हैं। ज्ञान-कोष की वृद्धि के लिए धन का संग्रह करते है—कराते हैं। इन सब मे परस्पर भेद और विसवाद है। ये आपस मे नही मिलते हैं, सब अपनी अपनी प्रशंसा करके समाचारी का विरोध करते हैं। ये सभी नामधारी साधु, विशेष करके स्त्रियो को ही उपदेश देते हैं और स्वच्छन्द रूप से विचरते हैं। अपने भक्त के छोटे गुण को भी वे बहुत बडा (–राई सदृश गुण को पर्वत जितना बडा) करके दिखाते हैं और कई प्रकार के बहाने बनाकर अधिक उपकरण रखते हैं। लोगो के घर जाकर धर्मकथा कहते फिरते है। ये सभी 'अहमिन्द्र' अर्थात् सर्व सत्ता सम्पन्न हो गए है,किंतु गरज होने पर नम्र बन जाते है और गरज निकल जाने पर फिर ईर्षा करने लगते है। ये गृहस्थो का बहुमान करते है और गृहस्थो को सयम के सखा (मित्र) कहते हैं। चदोवा और पूठिया (आसन के बैठने के स्थान के ऊपर व पीठ के पीछे बाँधने के जरी के वस्त्र) का सग्रह करते हैं। नाँद की आवक मे भी वृद्धि करते रहते है।" आदि.

अन्त मे श्री हरिभद्रसूरिजी लिखते हैं कि ये साधु नही, किंतु 'पेट भरो का झुड है।' वे दुख-के साथ कहते है कि "इस शिर-शूल की शिकायत किस के पास करे।" इस प्रकार १७१ गाथाओ द्वारा उस समय के साधु नामधारी असाधुओ का वर्णन किया है। उन्होने बताया कि "यह असयती पूजा का दसवा आश्चर्य, दुर्भिक्ष दारिद्रय और दुख का कारण है"।

वास्तव मे उस समय असाधुओ को साधु मानने रूप

मिथ्यात्व बहुत बढ गया था। वर्त्तमान मे भी परिस्थिति लगभग वैसी दिखाई देती है। प्रचार के साधनो की बहुलता के कारण एक व्यक्ति का मिथ्या प्रचार भी राष्ट्र-व्यापी हो जाता है और धर्म-तत्त्व के अनजान लोगो को वेश का आकर्षण ले डूबता है।

८ साधु को असाधु मानना

जिनमे साधुता के गुण हो, उन्हे असाधु मानना भी मिथ्यात्व है। जो नाम, स्थापना, द्रव्य और वेश मात्र से ही साधु नही, किंतु द्रव्य और भाव से साधु हो, वे ही वास्तविक साधु होकर वंदनीय होते है। जिनके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी कषाय की तीन चौकडिये उदय मे नही हो, जो सम्यग्दृष्टि पूर्वक सर्वविरति का सम्यग् रूप से पालन करते हो, पाच महाव्रत, रात्रि-भोजन त्याग और पाच समिति, तीन गुप्ति युक्त हो, दस विध समाचारी के पालक हो और जिनेश्वर भगवान् की आज्ञानुसार चलने वाले हो, वे ही खरे साधु है। ऐसे वास्तविक साधुओ को साधु नही मानना भी वैसा ही मिथ्यात्व है, जैसा गुणहीन अथवा असंयत, अविरत और असम्यग्दृष्टि को साधु मानना है।

चाहे जितना धुरन्धर विद्वान हो, चतुर हो, वाक्पटु हो, प्रभावशाली वक्ता हो, हजारो लाखो और करोड़ो पर अपना प्रभाव रखने वाला हो, उसका जीवन सादा ही नही, किंतु अनेक प्रकार के यम नियम और कठिन तप से युक्त हो, किंतु उसकी दृष्टि शुद्ध नही हो, उद्देश्य संसार-लक्षी हो और सम्यक्

प्रकार से विरत नही हो, तो वह निग्रंथ साधुता से दूर ही है और उसकी सभी प्रकार की साधना संसार वर्द्धक ही होती है (सूय. १-८) किन्तु जिसकी दृष्टि यथार्थ हो, जिसका लक्ष ससार से पार होकर शाश्वत स्थान को प्राप्त करने का हो और जो सम्यग् प्रकार से विरत हो, तो उसका मद प्रयत्न भी मोक्ष-साधक होता है और वह निग्रंथ साधु है। उसे साधु मानना चाहिए।

संसार मे साधना कई प्रकार की है, द्रव्य-धन साधना, क्षेत्र-देश, राष्ट्र अथवा राज्य साधना, काल साधना। (जो कार्य दीर्घकाल मे होता हो, उसे स्वल्प समय मे कर लेना अथवा समय की पाबन्दी रखना) काम भोग की साधना, विद्या साधना, मन्त्र साधना, बल साधना (व्यायामादि से) स्वर्ग साधना इत्यादि साधना करनेवाले साधक को, संसार भले ही साधु माने और साधु के नाम से पुकारे, किंतु निग्रंथ सस्कृति इन साधको को वास्तविक साधु नही मानती। उसकी दृष्टि मे वही साधु है, जो लौकिक सभी साधनाओ का त्यागकर के परमार्थ साधना करता हो "**परमट्ठाणुगामियं**" (सूय. १-६-६) जो संसार के समस्त सबधो को आश्रव का कारण मानता हो-'**सव्वेसंगा महासवा**" (सूय. १-३-२) जो संसार के सम्बन्ध-संयोगों को आश्रव का कारण जानकर परमार्थ की ओर गमन करता हो वही साधु है। ऐसे साधु को असाधु मानना और ईर्षा, अज्ञान और पक्षपात से उनकी निन्दा करना, मिथ्यात्व का ही परिणाम है।

यहा शंका हो सकती है कि 'साधु किसे मानना' ?

समाधान–आत्मिक दृष्टि से तो वही साधु है, जिसके कषाय की तीन चौकडियो का उदय नही हो और जो आरम्भ परिग्रह की रुचि से विरत हो, वही वास्तविक साधु है। ऐसे साधु को असाधु मानना मिथ्यात्व है।

अन्यमत का साधु भी ?

शंका–साधुता का आपका बताया हुआ स्वरूप तो बहुत सुन्दर है। जिसकी कषाये इतनी क्षीण हो वही साधु हो सकता है, फिर वह किसी भी मत को मानने वाला हो। क्योकि उपरोक्त व्याख्या से किसी मत का तो संबध ही नही है ?

समाधान–नही, यह स्वरूप जैनदर्शन का बताया हुआ है। जैन सिद्धात, उसी मे श्रावकपना या साधुता मानता है, जिसके अनन्तानुबन्धी कषाय उदय मे नही हो। जिसके अनन्तानुबन्धी का उदय नही होगा, उसके प्राय. मिथ्यात्व-मोहनीय का भी उदय नही होगा। अनन्तानुबन्धी चौक और दर्शन मोहनीय त्रिक का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर ही वह श्रावक की कोटि मे आ सकता है। मिथ्यात्व के सद्भाव मे वह श्रावक भी नही माना जाता, तो साधु कैसे माना जा सकता है ? जैन आगम स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जिस जीव को मिथ्यादर्शन सबधी क्रिया लग रही है, उसे अप्रत्याख्यानी अर्थात् असंयम की क्रिया लगती ही है, सभी (२४) क्रियाएँ लगती है। अतएव जिसका मत विपरीत हो, जिसकी दृष्टि अशुद्ध हो, उसमे अनन्तानुबधी

कषाय का उदय अवश्य है, फिर भले ही वह तीव्र न होकर मद ही हो। वह जैन सिद्धात के अनुसार साधु नही हो सकता।

शका—नमस्कार मन्त्र के पाँचवे पद मे लोक मे रहे हुए समस्त साधुओ को नमस्कार करने की शिक्षा दी गई है। उसमे किसी एक मत या वेश का आग्रह नही है। फिर आप इस प्रकार का आग्रह क्यो रखते हैं ?

समाधान—किसी भी वस्तु या तत्त्व का स्वरूप, उसके कहनेवाले के आशय के अनुसार ही होना चाहिए. अपनी मर्जी के अनुसार नही। जब जैन धर्म, मिथ्यात्व के उदय वाले को गृहस्थ-उपासक भी नही मानता, तो साधु मानेगा ही कैसे ? सम्यक्त्व को विरति की मूल-भूमिका मानने वाला दर्शन, अंटसंट मान्यता वाले को कभी साधु नही मानेगा, यह स्पष्ट और सरल बात है। गणधरादि सूत्र-प्रणेताओ और अभयदेवादि व्याख्याकार आचार्यों का यही मत है। श्रीभगवतीसूत्र की टीका करते हुए, नमस्कार मन्त्र के पाँचवे पद "नमोलोए सव्व साहुण" की व्याख्या करते हुए श्री अभयदेव सूरिजी ने लिखा है कि—

"सामायिकादि पाच चारित्र वाले, प्रमत्तादि नौ गुण-स्थान वाले, पुलाकादि निर्ग्रंथ, जिनकल्पिक, यथालंदकल्पिक, परिहारविशुद्ध-कल्पिक, स्थविरकल्पिक, स्थितकल्प, स्थितास्थित-कल्प तथा कल्पादि भेद युक्त, प्रत्येकबुद्ध, स्वयंबुद्ध, बुद्धबोधित आदि भेद वाले भरतादि क्षेत्र-भेद वाले, सुषमादि कालभेद वाले, इत्यादि अरिहतो के साधु ही "सव्वसाहु" पद से लिये जाते हैं, बुद्धादि के नही—"सार्वस्यवाऽर्हतो न तु बुद्धादेः"।

(पं० बेचरदासजी संपादित पृ० ५)

यह तो सहज ही समझ मे आवे ऐसी बात है कि जो जैन-धर्म को आदरणीय माने ही नही, वह जैन का साधु कैसे हो सकता है ? हम अपनी कुतर्क से उसे बरबस जैन-धर्म सम्मत साधु माने, तो यह हमारी मूर्खता होगी ।

गुणो की दृष्टि से देखा जाय तो भी यही बात है। विष-मिश्रित पात्र मे रखी हुई उत्तम वस्तु भी विपैली होजाती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी विष युक्त आत्मा का चारित्र भी विषैला होता है। इसीसे तो भगवती आदि सूत्रो मे वताया गया है कि दृष्टिविष वाली मिथ्यात्वी आत्माएँ, अपनी श्रमणोचित उग्र क्रियाओ के बल से ऊपर के ग्रैवेयक तक जा सकती है, उस फुग्गे की तरह जो हवा भरी हुई होने से आकाश मे ऊँचा उड सकता है, फिर हवा निकल जाने पर उसका पतन होता है। क्रिया के बल से ग्रैवेयक के अहमेन्द्र होजाने पर भी क्रिया से प्राप्त बल खत्म हुआ कि पतन हो ही जाता है। वह मिथ्यात्व उसे कहा कहा भटकायगा-यह सिवाय सर्वज्ञ के कौन कह सकता है ? तात्पर्य यह कि जैन साधु वही है जो जिनेश्वरो की आज्ञानुसार वर्ते, जो जिनेश्वर को और उनके धर्म को नही मानता हुआ विपरीत मत रखता है, वह नमस्कार मन्त्र के पांचवे पद मे स्थान ही नही पा सकता ।

वेश की उपयोगिता

शंका-आपका यह कथन ठीक है कि जैन-दर्शन उसी को साधु स्वीकार करेगा, जिसमे जैनधर्म सम्मत गुण हो, किंतु

साधुता मे वेश का क्या महत्व है ?

समाधान–नही, वेश महत्वशाली वस्तु नही है। जो केवल वेश का ही काम देता हो, उसकी उपयोगिता परिचय (अन्य से भिन्नता बताने) तक ही सीमित रहती है। किंतु जैन मुनियो के पास ऐसी कोई वस्तु नही होती, जो केवल परिचय का ही काम देती हो और संयम साधना मे उसका कोई उपयोग नही हो। हम रजोहरणादि उपकरण को केवल वेश मे ही शुमार नही कर सकते, क्योकि ये धर्म-साधना के साधन हैं। रजोहरण से प्रमार्जन द्वारा प्रथम महाव्रत की रक्षा होती है और मुख-वस्त्रिका द्वारा भाषा-समिति का रक्षण होकर संयम-साधना होती है। इन्हे केवल वेश मे ही गिन लेना भूल है। ये दो उपकरण तो जिनकल्पी मुनि भी रखते हैं। यदि इनका स्वीकार नही किया जाय, तो सयम का ठीक तरह से पालन होना असं-भव हो जाता है। क्योकि शरीरधारी के लिए खाना, पीना, चलना, फिरना, सोना, बैठनादि क्रियाएं तो अनिवार्य होती ही है। यदि रजोहरण द्वारा प्रमार्जन नही किया जायगा, तो अहिंसा का पूर्ण पालन कैसे होगा ? इसी प्रकार विना मुखवस्त्रिका के भाषा के साथ निकली हुई वायु से, जीवो की होती हुई विराधना कैसे टलेगी ? अतएव कम से कम ये दो उपकरण तो सुसाधुओ के लिए आवश्यक है ही। इसके सिवाय विना पात्र के आहार पानी का निर्दोष और यतना पूर्वक ग्रहण, तथा रुग्ण साधु की वैयावृत्य भी असभव हो जाती है। इसलिए पात्र की भी आवश्यकता रहती है। इन चीजो को वेश मे शुमार नही करना चाहिए।

वस्त्र मुख्यतः शीत, लज्जा तथा डाँस मच्छरादि से बचाव करने के निमित्त लिये जाते हैं। उपकरण कम से कम रखना, सुशोभित और बहुमूल्य के नही रखना, और अनावश्यक सग्रह नही करना, यह साधुता की भावना के अनुरूप है। सहनशीलता और परिणामो की धारा बढने पर, इन वस्त्रादि उपकरणो का त्याग भी किया जा सकता है। (उत्तराध्ययन २९)

हा, तो निर्ग्रंथधर्म मे मुखवस्त्रिकादि केवल वेश अथवा परिचय के लिए ही नही, किंतु विराधना से बचाने वाले–सयम पोषक साधन हैं और परिचय का काम तो देते ही है। अजैन परम्पराओ मे कई उपकरण सयम सहायक नही होकर मात्र परिचायक होते हैं, वैसा निर्ग्रंथ परम्परा मे नही।

अन्य आराधक क्यों नहीं ?

शका–क्या अहिंसा और सत्य का पूर्ण रूप से पालन करते हुए, किसी भी वेश मे रहने वाले और किसी भी प्रकार की आराधना करने वाले को आप साधु नही मानते ?

समाधान–जैन-धर्म सम्मत साधु वही हो सकता है जो जिनेश्वर की आज्ञा माने और समाचारी का पालन करे। जो जिनाज्ञा को आदरणीय नही मानता, वह जैन साधु हो ही नही सकता। दूसरी बात यह भी है कि अहिंसादि का पूर्ण रूप से चिरकाल तक पालन, न तो गृहस्थ कर सकते हैं और न अन्य क्रियाकांडो को करने वाले साधु ही कर सकते है। साधुता के आचार की पहली शर्त–सावद्य क्रिया का सर्वथा त्याग होता है'

पृथ्वी आदि छ काय के आरंभ का तीन करण तीन योग से परिहार, सब से पहले होता है। जो इस प्रकार की वृत्ति नही अपना सकता, वह जिनेश्वरो की आज्ञा को आदरणीय मानते हुए भी जैन-साधु नही हो सकता। इस प्रकार की वृत्ति गृहस्थों और अजैन साधुओ मे नही हो सकती। गृहस्थो को गृहस्थवास मे रहते हुए स्थावर जीवो के आरम्भ से सर्वथा बचना असभव है और अजैन साधुओ के क्रिया-काण्डो मे भी स्थावर और छोटे छोटे त्रस जीवो की हिंसा का बचाव नही होता। ईर्यादि पाँचों समितियो का पालन आदि भी निग्रंथो के अतिरिक्त अन्य लोगों से नही हो सकता। क्योकि गृहस्थो का तो जीवन ही प्रायः आरम्भमय और सावद्य है,तथा अन्य संस्कृति मे सावद्य-निरवद्य तथा आरम्भ-अनारंभ का विचार ही नही है, इसलिए उन्हे पूर्ण अहिंसक आदि नही कह सकते।

शका—उपरोक्त विचार प्रामाणिक भी है या आपका अपना मत है ?

समाधान—लीजिये प्रमाण। स्वय निग्रंथनाथ भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन मे कहा है कि—"आणाए मामगं धम्मं"—मेरा धर्म, आज्ञानुसार पालन करने मे है (आचारांग १—६—२) गुरुदेव अपने शिष्य से कहते हैं कि—"अणाणाए एगे सोवट्ठाणे, अणाए एगे णिरुवट्ठाणे, एतं ते मा होउ एयं कुसलस्स दंसणं" अर्थात्—हे शिष्य! जिनाज्ञा के बाहर की क्रिया मे तुम्हारा उद्यम और जिनाज्ञा के पालन मे आलस्य, ये दोनो नही होना चाहिए, क्योकि यह सर्वज्ञ भगवान् का दर्शन है (आचा-

राग १-५-६) इसके अतिरिक्त "रोइअ णायपुत्तवयणे.... (दशवै १०-५) आदि कई आगमिक प्रमाण है। आचाराग १-८-१ मे स्पष्ट लिखा है कि "सव्वत्थ सम्मयं पावं" अर्थात् सभी पर-समयो मे पाप रहा हुआ है। पुरातन आचार्यों मे श्री सघदास गणि, बृहत्कल्प भाष्य गा० ६२४ तथा २४८८ मे लिखते है "आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु" अर्थात् आज्ञा से ही चारित्र की व्यवस्था है, आज्ञा भंग से क्या भग नही होता ? सभी भग हो जाता है। चारित्र की अपेक्षा से व्यवहार उ. १० भाष्य गा० ३८६ मे लिखा कि "षट्काय का संयम हो, वही तक सयती माना जाता है," इत्यादि अनेक प्रमाण है। और यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जिस प्रकार जैन-धर्म ने अहिसा का विकास किया और निर्ग्रंथो ने जितना अहिसा का पालन किया, वैसा अन्य किसी ने नही किया, न ऐसी व्यवस्था ही किसी अन्य संस्कृति मे है। जिनाज्ञा से कम, अधिक या विपरीत प्ररूपणा प्रचारादि करना मिथ्यात्व है। इसी प्रकार लौकिक लोकोत्तर मिथ्यात्व आदि से बचना भी निर्ग्रंथ श्रमणो के सिवाय दूसरो से नही होता। अतएव जैन-धर्म सम्मत साधुता अन्यत्र नही है, यह प्रकट सत्य है।

अहिसा के अतिरिक्त असत्य-त्यागादि पाचो महाव्रतो के पालक और रात्रि-भोजन के त्यागी, ईर्यासमिति पूर्वक पैदल चलने वाले, निरवद्य एव परिमित वचन बोलने वाले, जिनकी आवश्यक वस्तु को प्राप्त करने की रीति, आगमिक नियमो के अनुसार निर्दोष हो, जो वस्तु को उठाने, रखने और मलादि

त्यागने मे विवेकशील होकर निर्ग्रंथ मर्यादा का पालन करते हो, जिनका समय स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिक्रमणादि आत्मोत्थानकारी कार्यों मे लगता हो, जो संसारियो के विशेष सम्पर्क से दूर रहकर अपनी साधना मे रत रहते हो और अवसर प्राप्त होने पर भव्य जीवो को मुक्ति-मार्ग का उपदेश देते हो, वे ही सच्चे साधु है। ऐसे साधु को असाधु मानने वाले सचमुच मिथ्यादृष्टि हैं।

जो सच्चे साधु का डौल करते हुए भी अपने मुक्ति के ध्येय से विमुख हो जाते है और विविध प्रकार के सासारिक उद्देश्यो की ओर झुक जाते है, जिनके सोचने के विषय सासारिक है, जिनके लिखने बोलने के विषय लौकिक हैं, जो ससार के सावद्य कार्यों मे योग देते हैं, जिनके भाषण निर्ग्रंथ-प्रवचन की मर्यादा के बाहर जारहे हैं, वे निर्ग्रंथ अणगार नही हैं, वे कोई और ही है। वास्तव मे वे नाम और वेश से ही साधु है, भाव से तो वे असाधु हो चुके हैं। ससारी लोगो अथवा जैनेतर साधुओ जैसी उनकी परिणति हो चुकी है। भगवान् महावीर के निर्ग्रंथ साधु, न तो आरम्भजनक सावद्य वचन बोलते हैं, न वैसा लिखते हैं, न गृहस्थो के और अन्यतीर्थियो के सभा-सम्मेलन बुलाते हैं। वे संसारियो मे चलते हुए विवादो, सघर्षों और आन्दोलनो मे नही उलझते। वे इन सब प्रपञ्चो से दूर रहकर जिनोपदिष्ट मोक्ष मार्ग पर ही चलते रहते हैं।

साधु और जनसेवा

शंका—जन-सेवा के लिए तो जन सम्पर्क आवश्यक है ही और जनता के कष्टो को मिटाना ही सच्ची जन-सेवा है।

जन-सेवा के लिए ही जो साधु बनते हैं, वे जनता से और जन-आन्दोलन से दूर कैसे रह सकते है ?

समाधान–यह मानना ही गलत है कि निर्ग्रंथो की दीक्षा, जन-सेवा के उद्देश्य से होती है। जो जन-सेवा के उद्देश्य से दीक्षा लेने का कहते है, वे खुद अपना अज्ञान जाहिर करते हैं। प्रथम तो दीक्षा का उद्देश्य ही मोक्ष प्राप्ति का है, जन-सेवा का नही। दूसरा–साधु, जन-सेवक नही, किंतु जन सेव्य–पूज्य होता है। तीसरा–निर्ग्रंथचर्या के साथ जन-सेवा का कार्य सगत भी नही होता।

निर्ग्रंथ प्रवचन क्या है ? इसके सम्बन्ध मे आगमकार स्वय कहते है–"**सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं**" अर्थात–जिनधर्म, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, निर्याण मार्ग है, निर्वाण मार्ग है, सन्धि रहित परिपूर्ण एवं समस्त दु खो को नष्ट करनेवाला मार्ग है। श्री आचाराग २–६ मे बताया है कि 'जो परमार्थ दर्शी हैं, वे मोक्ष मार्ग को छोड कर अन्यत्र नही जाते– "**जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे**"। उववाई सूत्र मे निर्ग्रंथो के निष्क्रमण का ध्येय बताते हुए लिखा कि–"**कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिया**" (–कर्मों को नष्ट करने के लिए ही साधुता है) आदि, दशवैकालिक ५–१ की निम्न गाथा मे स्पष्ट रूप से कह दिया गया कि–

"**अहो ! जिणेंहि असावज्जा, वित्ति साहूण देसिया।**
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा" ॥ ९२ ॥

इस प्रकार निर्ग्रंथो की प्रव्रज्या का ध्येय मोक्ष साधना है, जन-सेवा नही है। आचाराग १–४–१ मे लिखा कि— "**णो लोगस्सेसणं चरे,**" इस वाक्य से यह शिक्षा दी गई कि लोगो का (जनता का) अनुसरण नही करे। दशवैकालिक ३ मे गृहस्थो की सेवा करना, साधु के लिए अनाचरणीय बताया है और निशीथसूत्र मे, गृहस्थो की सेवा का साधु के लिए प्रायश्चित्त विधान किया गया है। यदि आप पूर्वकाल के श्रमणो की चर्या का वर्णन पढे और विचार करे, तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि वे जन-सम्पर्क से दूर ही रहते थे। वे सासारिक सयोग से मुक्त रहने वाले थे। यदि श्रमणो का ध्येय जन-सेवा का होता, तो उन्हे ससार त्यागने की आवश्यकता ही नही रहती, न जगलो मे रहने की जरूरत थी और न रजोहरणादि उपकरण रखने की ही आवश्यकता रहती, अपितु जन-सेवक की भाति वे भी कुर्त्ता टोपी आदि पहनकर सफाई आदि और निर्माण, रोजी प्रबन्धादि करते रहते। रोगियो की सेवा और सासारिक भाषा, कलादि सिखाते रहते, किंतु निर्ग्रंथ-चर्या मे आज भी यह नही है और पहले भी ऐसा कुछ भी नही था। इससे भी यह सिद्ध है कि जैन साधु जन-सेवक नही हैं। उनका उद्देश्य लोक-सेवा का कभी भी नही रहा। वे जनता के सेव्य हैं, "**नमो लोए सव्वसाहूणं, साहु मंगलं, साहूलोगुत्तमा, साहूसरणं पवज्जामि,**" इत्यादि आगमिक वाक्यो को जानने वाला, साधु को जनसेवक कहने का साहस नही कर सकता।

इस प्रकार जो साधु "**णिग्गंथं पावयणं पुरओकाओ**

विहरई" (उववाई) निग्रंथ-प्रवचन को आगे करके (निग्रंथ-प्रवचन के अनुसार प्रवर्तन करते हुए) विचरते है, वे खरे साधु है। ऐसे उत्तम साधुओ को असाधु मानना मिथ्यात्व है।

९ अमुक्त को मुक्त मानना

जो राग-द्वेष मे रगे हुए है, जिन्होने संसार के बन्धनो को समझा ही नही, जो जीव अजीव को जानते नही, जिन्हे बन्धन और मुक्ति का ज्ञान नही, उन कर्म-बन्धनो मे जकडे हुए और ससार मे परिभ्रमण करते हुए जीवो को मुक्त मानना मिथ्यात्व है। जिनका मिथ्यात्व भी नही छूटा, जिनकी अज्ञान से भी मुक्ति नही हुई, जो प्रेमियो—भक्तो के प्रति स्नेह रखकर उनको मुक्त करने की प्रतिज्ञा करते है, जो दुष्टो का संहार और सज्जनो की रक्षा करने का अशक्य एव अनहोना विश्वास दिलाते है, वे अपने खुद के मिथ्यात्व से भी मुक्त नही हुए, तो दूसरो को किस प्रकार मुक्त कर सकते है। जिस प्रकार बन्दीगृह मे पडा हुआ, प्रथम-श्रेणी का बन्दी, तृतीय-श्रेणी के बन्दी को कहे कि—'तू मुझ पर विश्वास कर, मैं तेरे बन्धन काट कर तुझे स्वतन्त्र करा दूंगा,' तो ऐसे व्यक्ति के वचन पर कौन विश्वास करेगा ? समझदार तो यही कहेगा कि—"पहले आप स्वय तो मुक्त हो जाइए, फिर मेरी चिंता कीजियेगा। अभी आपके छूटने का तो ठिकाना ही नही, खुद बन्दी बने हुए हैं और मुझे छुडाने की प्रतिज्ञा करते है। आपकी इस प्रतिज्ञा पर कौन विश्वास करेगा ?"

कोई रमणियो के रंग मे रगे हुए हैं। ललनाओं के साथ भोग-विलास, गान और नृत्य करते हुए अपने उत्कृष्ट भोगीपन का परिचय दे रहे है। कोई अनीतिपूर्वक परस्त्रियो के साथ अभिसार करते है, उनके साथ अनैतिक आचरण करते हैं, हजारो रानियाँ होते हुए भी नई-नवेलियो के लिये युद्ध करते हैं या हरण करके ले जाते हैं, वे मोह के महा-पाश से तो मुक्त हुए ही नही, फिर कर्मों के वज्र-बन्धनो से कैसे मुक्त हो सकते हैं?

कई योगी, अवधूत और ऋषि कहलाते हैं, फिर भी अर्धांगना का साथ तो लगा ही हुआ है। रमणी के बिना वें रह ही नही सकते और योगी अवस्था मे ही जिनके सन्तानं होती है, जिनके अर्धांगना होते हुए भी परस्त्री पर रीझ जाते हैं, जिनकी लंगोट की सचाई का भी विश्वास नही, उन्हे मुक्त, अमर एवं मृत्युजय कैसे माना जा सकता है ?

जिसके राग नही होता, वह न तो स्त्रियो से सम्बन्ध रखता है और न भोग-विलास मे डूबा रहता है। काम-भोग मे आसक्त व्यक्ति, वीतराग हो ही नही सकता। फिर जो मादक वस्तुओ का प्रेमी होकर मदोन्मत्त बनता है, उसे राग-मुक्त कैसे कहा जाय ? और जो राक्षसो, अनार्यों एवं असुरो का संहार करने के लिये विकराल बनकर प्रलय मचा देते हैं जिनके पास संहारक अस्त्रादि बने रहते हैं, क्या वे भी द्वेष-मुक्त हो सकते हैं ?

कोई मुक्त माना जाने वाला, हाथ में माला रखकर जाप करता हुआ दिखाई देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि

वह अपने से उच्च एव श्रेष्ठ किसी महाशक्ति की आराधना कर रहा है, और वह विस्मरणशील भी है, तभी जाप की सख्या का हिसाब रखने के लिए माला का उपयोग करता है। ऐसे साधक और भुलक्कड को सर्वेश्वर एव मुक्त मानना, किस प्रकार उचित है ?

किसी महाज्ञानी और मुक्त कहलाने वाले को शिष्य ने पूछा कि 'भगवन् ! यह लोक कैसा है ? जीव का स्वरूप कैसा है ? पुनर्जन्म है भी या नही, इत्यादि प्रश्नो का समाधान नही करके 'अव्याकृत' कहकर टाल दिया। जब वे खुद भी नही जान पाये, तो समाधान क्या करेगे और 'मै नही जानता,' यह भी कैसे कहेगे ? यह भी पूछा गया कि 'इस देह को छोडने के बाद आप क्या होगे ?" तो इसका उत्तर भी वही 'अव्याकृत'। इससे मालूम होता है कि उनपर भी अज्ञान का आवरण छाया हुआ था। अहिंसा का उपदेश देते हुए भी उनके व उनके सघ के लिए पशु-हत्या कर भोजन करवाने वालो का न्योता मान लिया जाता था और वे मास भक्षण करते थे।

जो मुक्त होने का मार्ग ही नही जानते हो, जिनके जीवन चरित्र और सिद्धात से राग, द्वेष, अज्ञान, अविरति, प्रमाद और कषाय स्पष्ट रूप से झलकते हो, ऐसे असम्यक् ससार-समापन्नक जीवो को मुक्त मानना कहा की समझदारी है ?

मुक्त होने मे सब से पहले स्व और पर का ज्ञान होना अनिवार्य है। स्व-पर के भेद-ज्ञान के बाद, पर से छूटने का उपाय जानना भी अनिवार्य है। सामान्यतया

इतना ज्ञान होने के बाद ही मुक्त होने का उचित प्रयत्न प्रारंभ होता है। जो इस प्रारंभिक ज्ञान से ही वचित हो, उन्हे मुक्त मानना तो अपनी मिथ्या परिणति ही प्रकट करना है।

मुक्त जीवो का स्वरूप कैसा है, क्या उनके शरीर, इन्द्रियाँ और मन होता है, खान-पानादि क्रियाएँ होती है, वे वहा क्या करते हैं, इत्यादि बातो को यथार्थरूप से नहीं जानने वाले, उस अनजान मुसाफिर जैसे होते है, जो चलता तो है, किंतु उसे अपने गतव्य स्थान का पता ही नही है। इस प्रकार के जीव, घानी के बैल की तरह संसार-चक्र मे ही पडे रहते हैं। उन्हे मुक्त मानना गभीर भूल है।

सत्य यह है कि जो मुक्त हो चुके हैं, वे संसार के सभी कारणो को नष्ट करने के बाद मुक्त हुए हैं। मुक्तात्माओ के शरीर, वाणी, मन और इन सब का कारण—कार्मण-शरीर होता ही नही। इस कारण के अभाव मे उनका जन्म ही नही होता, फिर मृत्यु की तो बात ही क्या? किंतु संसार से मुक्त कहे जाने वाले आराध्यो के विषय मे जब हम सोचते है, तो बात ही उलटी दिखाई देती है। अवतारवाद की मान्यता ही यह बतलाती है, कि जिन्हे मुक्त माना जा रहा है, वे वास्तव में अमुक्त (बंदी) ही हैं। मुक्त जीव, मुक्ति से वापिस लौटता नही और जो लौटता है, वह मुक्त हुआ ही नही।

जैन-धर्म ने मुक्त अमुक्त का स्वरूप वास्तविक रूप से प्रकट किया है। जैन-धर्म का सिद्धात है कि मुक्त सिद्धात्मा, किसी का हिताहित नही करते। उन्हे न तो अपने उपासको—

धर्मात्माओ और सुसाधुओ पर प्रेम है और न पापात्माओ, नास्तिको और धर्म-घातको पर द्वेष है। वे अपने निजानन्द मे रहे हुए हैं। उन्हे संसार मे अवतरण करने (पतित होने) की कोई आवश्यकता नही। संसार के सुख-दु ख अथवा धर्म-अधर्म से उनका कोई सरोकार नही। वे राग, द्वेष काया, कर्म, जन्म और मरण तथा उद्वर्त्तन और अपवर्त्तन—अवतरण से सर्वथा रहित है। इस प्रकार मानना सम्यक्त्व है और इसके विपरीत श्रद्धान मिथ्यात्व है।

जिन्हे मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व स्वीकार करना है, अथवा सम्कक्त्वी रहना है, उन्हे रागी, द्वेषी, अज्ञानी और आठ कर्मों के बन्धनो मे बधे हुए अमुक्त जीवो को मुक्त नही मानना होगा, उन्हे मुक्त के समान नहीं बतलाना होगा। जो ऐसे अमुक्त. अजैन आराध्यो को मुक्तेश्वर (जिनेश्वर) के समकक्ष मानते हैं और प्रचार करते है, वे स्वयं मिथ्यात्व को अपनाते हैं और मिथ्यात्व का प्रचार करके उपासको को भी मिथ्यात्वी बनाने का प्रयत्न करते हैं। सम्यग्दृष्टियो एवं सम्यग्ज्ञानी उपदेशको का कर्त्तव्य है कि उपासको की बिगाड़ी जाती हुई श्रद्धान को सुरक्षित रखने का यथाशक्य प्रयत्न करते रहे।

१० मुक्त को अमुक्त मानना

जो कर्म-बन्धनो और पर की संगति से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, संसार का संयोगजन्य कोई भी सम्बन्ध जिनके शेष नही रहा, उन सिद्ध भगवन्तो को अमुक्त (बन्दी) मानना भी

मिथ्यात्व है। कई मतावलम्बी, मुक्तात्मा (सिद्ध भगवान्) को इच्छा, कामना, अर्थात् राग, द्वेष युक्त मानते हैं। उनका अवतार लेना लिखते हैं, वे वास्तव मे अनभिज्ञ है। जो मुक्त है, वह बन्दी नही हो सकता और जो बन्दी है, वह मुक्त नही है। जिसे पुन: अवतरित होना माना जाता है, वे मुक्त नही हैं, या तो वे काल्पनिक ईश्वर हैं, या फिर अमुक्त है। क्योकि मुक्तात्मा के पुन अवतरण का कोई भी कारण शेष नही रहता। जन्म-मरण के कारणो का आत्यन्तिक नाश कर देने से ही वे मुक्त हुए हैं। जन्म वही लेता है, जो आठो कर्म मे बन्धा हुआ हो।

ईश्वर कर्तृत्ववादियो के संसर्ग दोष से, बहुत-से जैनी भी शुभाशुभ फल का कारण, ईश्वर को मान कर कहा करते हैं कि–'यह जो कुछ दु खद घटना घटी, इसमे मनुष्य का क्या दोष है, प्रभु की जो इच्छा होती है वही होता है।" कोई मर जाय तो–"भगवान् ने उसे उठा लिया," "भगवान् मृतात्मा को शाति दें," इस प्रकार अनेक तरह से सर्व-मुक्त परमात्मा को, अमुक्त संसारी जीव के समान वतलाने की भूल करते हैं। कुछ वर्ष पूर्व, जैन संस्था के एक जैन अध्यापक का, सम्यग्दर्शन मे प्रकाशनार्थ एक लेख आया था। भगवान् महावीर की जयती के विषय में उन्होने लिखा था। उनके लेख मे भगवान् से प्रार्थना की गई थी कि–

"देश मे अन्न का भयंकर दुष्काल है। अतिवृष्टि और अनावृष्टि ने फसलो को नष्ट कर दिया है। गरीबो की हालत बड़ी दयनीय हो रही है, इसलिए हे वीर ! यदि सचमुच आप

भगवान् हैं, दयालु हैं, दीन-बन्धु है, जगदीश्वर एवं षट्काय के 'पीहर' हैं, तो शीघ्र आइये, अवश्य आइये और इस भयकर समय मे भारत की रक्षा कीजिए। इससे एक पथ और दो काज होगे, अर्थात् जीवो की रक्षा भी होगी और जैन-धर्म की प्रभावना भी होगी। जनता जैन-धर्म का प्रभाव देखकर इसकी शरण मे आ जाएगी," इत्यादि।

मैने इस लेख को स्थान नही दिया और इससे लेखक अप्रसन्न भी हुए, किंतु उपरोक्त अश पर से यह स्पष्ट हो रहा है कि 'जैन सस्थाओ मे पढकर उत्तीर्ण हुए--डिगरी प्राप्त अध्यापक भी जब मुक्त को अमुक्त मान रहे है, तब दूसरो की तो बात ही क्या है? एक अजैन पद्य मे यह प्रार्थना की गई कि--

"आज सभा मे दर्शन दो, मेरे राम कृष्ण भगवान्"

इसका अनुसरण करते हुए एक जैन की ओर से भी यह पद्य बनाकर सभा मे सुनाया गया कि--

"आज सभा मे दर्शन दो, मेरे महावीर भगवान्।"

जब हम मध्यकाल के जैनाचार्यों की रचनाओ को देखते हैं, तो ऐसे मन्तव्य पर उतना आश्चर्य नही होता। अजैनो के प्रभाव से, मध्यकाल के कुछ जैनाचार्य भी अछूते नही रहे। उन्होने प्रतिष्ठा आदि के अवसर पर, मुक्त जिनेश्वरो और सिद्ध भगवतो को मन्त्रोच्चार करके आह्वान किया है और यह क्रिया अब भी यथावसर होती है। मोक्ष प्राप्त जिनेश्वरो और सिद्ध भगवतो को, 'सादि अपर्यवसित' एवं 'मपुणरावित्ति' मानने वाले, उनको पुनः संमार मे बुलावे, तो अपनी ऐसी प्रवृत्ति

से वे यह बतला रहे हैं कि मुक्तात्माओ का भी चवन=पतन (अवतरण) होता है, अर्थात् वे अमुक्त हैं। इस प्रकार मुक्त को अमुक्त मानना मिथ्यात्व है।

मुक्त वही है, जिनके अज्ञान, मोह, वेदना, शरीर और संसार के सभी सम्बन्ध छूट चुके हो। जिनमे किसी भी प्रकार की इच्छा, आशा, तृष्णा या राग द्वेष का अंश-मात्र भी नही रहा हो। ससार की सम विषम अवस्थाओ का प्रभाव जिनकी आत्म परिणति मे, किसी प्रकार की चलमलता नही ला सकते हो और जो मुक्त होने के समय से असीम अनन्तकाल समरस में लीन, अचल एव निष्कम्प दशा मे रहते हो।

जैन-सिद्धात (प्रज्ञापना) मे सिद्धो को मुक्त–असंसारी (असंसारसमापन्नक) माना है। सिद्धो के अतिरिक्त सभी जीवो को अमुक्त–ससारी माना है। यह आत्यंतिक मुक्ति की अपेक्षा से है। इसमे अतिम गुणस्थान स्थित अयोगी-केवली भगवान् को भी संसारी माना है, क्योकि अभी अचल एवं शाश्वत स्थान प्राप्त करना शेष है। जब वे लोकाग्र पर स्थित हो जाते हैं, तब उन्हे मुक्त मानते हैं। किंतु क्रमिक आत्मिक उत्कर्ष की दृष्टि से ससार मे रहकर मुक्ति-साधना करने वाले सर्व-साधको को भी देश-मुक्त स्वीकार किया है। आचाराग २–१६ निर्युक्ति गाथा ३४२ मे लिखा कि–

"देसविमुक्का साहू, सव्वविमुक्का भवे सिद्धा"।

अर्थात्–छठे गुणस्थान से लगाकर केवली पर्यंत देश-मुक्त हैं और सिद्ध सर्व-मुक्त हैं। यो तो मिथ्यात्व मुक्ति से ही आंशिक

मुक्ति प्रारभ हो जाती है, किंतु संसार त्याग के बिना मुक्ति-मार्ग की क्रियात्मक सर्व आराधना, यथार्थरूप मे नही होती। इसलिए साधु से लगाकर केवली तक को देश-मुक्त माना है। जो मिथ्यात्व से मुक्त है, उन्हे मिथ्यात्वी मानना, जो अविरति से मुक्त हैं, उन्हे अविरत-असाधु मानना, जो प्रमाद, कषाय और योग मुक्त है, उन्हे अमुक्त मानना मिथ्यात्व है और सिद्ध-परमात्मा को ससारी मानना भी मिथ्यात्व है। इस प्रकार सभी तरह से मुक्त, सिद्ध भगवान् को अमुक्त मानने वाले मिथ्यात्वी हैं। समझ मे नही आता कि इस प्रकार आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक, आधि व्याधि और उपाधि से सर्वथा मुक्त, सिद्ध-परमात्मा को मुक्त नही मानेगे, तो क्या उन्हे मुक्त मानेगे —जो जन्म-मरण और राग-द्वेष के चक्कर मे पडे हैं? जो भक्त के वश मे होकर अपने आराम और सुख को छोडकर भागते फिरते हैं?

जो जैन लोग, मुक्तात्माओ से अपनी भौतिक कामनाओ की पूर्ति करने की प्रार्थना करते हैं, वे भी भूल करते है। उन्हे यह तो सोचना चाहिये कि क्या वीतराग-परमात्मा आपकी सराग प्रार्थना की पूर्ति करेगे? यदि वे सराग कामना की पूर्ति करे, तो खुद वीतराग क्यो हुए? सशरीर अरिहत भगवान् स्वय राग द्वेष और ससार को त्यागने का उपदेश करते है, तो क्या आपको राग-द्वेष मे फँसाने मे सहायक होगे? जब शरीरधारी अरिहंत भगवान् ही ऐसा नही करते, अरे मर्यादा-पालक साधु भी ससारियो की स्वार्थपूर्ति मे सहायक नही होते, तो

क्या मुक्त-परमात्मा उनकी स्वार्थपूर्ति करेगे ? वास्तव मे असम्यग्दृष्टियो की सगति का प्रभाव हमारी विचारधारा पर भी पडा है। हमे ऐसे विचारो को त्याग कर, इस मिथ्यात्व से बचना चाहिये।

११ आभिग्रहिक मिथ्यात्व

तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही, अपने पकडे हुए रूढ पक्ष से दृढतापूर्वक चिपके रहना और सत्य का विरोध करना—'आभिग्रहिक-मिथ्यात्व' है। अज्ञान के साथ आग्रह का योग हो, तब यह मिथ्यात्व होता है। अनसमझ और अज्ञानी अजैन लोगो मे ही यह मिथ्यात्व होता है—ऐसी बात नही है। कुछ जैन लोगो मे भी रुढिवश इस प्रकार का मिथ्यात्व चलता रहता है। जैसे कि कुल परम्परानुसार कई जैन कहाने वाले लोग, होलिका का पूजन करके दहन करते हैं। चेचक, मोतीझरा आदि रोगो को देव-स्वरूप मानते है। श्राद्धपक्ष मे पितरो का श्राद्ध करते हैं, यौवनवय प्राप्त होने के पूर्व ही बालवय मे कन्या का विवाह करते हैं और कन्यादान को धर्म मानते हैं। मालव आदि देशो मे विवाह का प्रारभ, कुभकार के चाक (चक्र) पूजन से करते है और उकरडी पूजनादि हास्यास्पद रिवाजो को भक्तिपूर्वक अदा करते हैं। यह सब अजैन परम्परा का प्रभाव है।

विवाह के अवसर पर गणपति स्थापना करना और सारी क्रियाएँ उनके सामने करना तथा भेरू भवानी आदि का पूजन करना, ये सब क्रियाएँ अन्धपरम्परानुसार है। इसी प्रकार लक्ष्मी पूजनादि भी। हम यह नही सोचते कि इस प्रकार की मिथ्या

क्रिया नही करने वालो के भी विवाहादि कार्य सुखपूर्वक सम्पन्न होते है, बिमारियो को देवस्वरूप नही मानने वाले लोगो को भी ये रोग होते हैं और उनका निवारण हो जाता है, तथा लक्ष्मी पूजादि नही करने वालो के यहा भी भरपूर सम्पत्ति होती है। हिन्द बाहर के अमेरिका आदि देश, बिना लक्ष्मी पूजन के भी समृद्ध एव शक्तिशाली बने हुए है। फिर हम क्यों इन व्यर्थ के क्रिया-काण्डो मे उलझकर अपनी मूढता एव अज्ञानता का प्रदर्शन करे ?

मरणोत्तर क्रिया मे मृतक को धूप आदि देना, आदि कई अज्ञानपूर्ण क्रियाएँ प्रचलित हैं, जिनसे न तो कुछ भौतिक लाभ है और न आत्मिक लाभ ही है। उल्टा मिथ्यात्व का पोषण होकर आत्मा को कर्म-बन्धनो में जकडना है। इस प्रकार की क्रियाओ के विपरीत यदि कुछ कहा जाय, तो इसके बचाव मे परम्परा की ओट तथा अन्धविश्वास की बाते ही सामने आती है।

जैनी कहे जाने वालो मे ऐसी अन्धपरम्परा (जो केवल मिथ्यात्व पर ही खडी है) चलते रहना, सचमुच आश्चर्य की बात है। कुछ लोगो मे तो इतना आग्रह होता है कि वे इन विषयो मे, त्यागी संतो के उपदेश को भी नही मानते हुए यही कहते हैं कि "महाराज! ये क्रियाएँ हमारे बापदादा और पूर्वज, परम्परा से करते आये हैं, इसलिए हम भी करते हैं। वे मूर्ख नही थे, हमसे अधिक समझदार थे," आदि।

इसी प्रकार कई लोग ऐसे भी होते है कि कारणवश

जिनकी धारणा तत्त्व-ज्ञान के विपरीत (आगम के प्रतिकूल) होते हुए भी निर्णय करना नही चाहते, किंतु अपने पकडे हुए गर्दभ-पुच्छ से ही लगे रहते हैं।

यो तो अज्ञान भी मिथ्यात्व है, क्योकि विपरीत ज्ञान जहाँ होता है, वहा मिथ्यात्व होता है। किंतु अज्ञान के साथ आग्रह होने पर वह आभिग्रहिक मिथ्यात्व हो जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि ज्ञानावरणीय के उदय से सम्यग्दृष्टि को भी किसी एक विषय मे गलत धारणा हो जाती है, किंतु वह होती है जैन-तत्त्वज्ञान के रूप मे। उसका विश्वास होता है कि "जिनेश्वरो ने ऐसा ही कहा है"। ऐसे भ्रम-मात्र से वह मिथ्यादृष्टि नही बन जाता। क्योकि उस मान्यता के साथ उसका आग्रह नही होता और जब सद्गुरु का योग मिले और वे समझावे, तो वह अपनी गलत धारणा छोडकर सत्य को अपना लेता है। 'मेरा सो सच्चा'–ऐसा हठाग्रह उसका नही रहता, किंतु 'सच्चा सो मेरा'–इस प्रकार वह सत्य-तत्त्व का ग्राहक रहता है। इस प्रकार की भूल-भुलय्या के कारण जिनेश्वरो पर श्रद्धा रखते हुए, किसी विषय मे गलत धारणा होने पर भी वह मिथ्यादृष्टि नही माना जाता। आचारांग सूत्र १–५–५ मे कहा है कि–

"समियं ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होंति उवेहाए। असमियं ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होंति उवेहाए"।

अर्थात्–जिसकी श्रद्धा शुद्ध है, जो मानता है कि "जिने-

श्वरों के वचन सत्य ही है।" उसे सम्यक् अथवा असम्यक् वस्तु भी, सम्यग्रूप मे ही परिणत होती है। किंतु जिसका श्रद्धा ही अशुद्ध है, जिसकी विचारणा ही असम्यग् है, अर्थात् जा मिथ्यादृष्टि है, उसको तो सम्यक् और असम्यक्–दोनो प्रकार की वस्तु, असम्यक्–मिथ्यारूप ही परिणमती है।

तात्पर्य यह कि सम्यग्ज्ञान के सद्भाव मे कदाचित् गलत धारणा भी हो जाय, तो वह मिथ्यादृष्टि नही कहा जाता, परतु यदि वह समझाने पर भी नही माने और आगम प्रमाण उपस्थित होने पर भी अपना हठ नही छोड कर, खोटे पक्ष को पकडे रहे, तो वह मिथ्यात्वी हो जाता है और 'अभिनिवेश मिथ्यात्व' मे उसकी गणना होती है। अतएव सम्यग्दृष्टि को चाहिए कि वह श्रुतज्ञानी के द्वारा, आगमानुसार समझाने पर अपनी पूर्व की भूल सुधार कर विशुद्धि कर ले और आभिग्रहिक मिथ्यात्व से वचित रहे।

१२ अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व

गुण दोष की परीक्षा नही करते हुए सभी पक्षो को समान रूप से मानना।

दो प्रकार की भिन्न वस्तुओ मे भी गुणो की तरतमता होती है, दोनो समान नही हो सकती, तब अनेक मतो मे समानता कैसे हो सकती है? यह साधारणसी बात भी नही समझ कर जो सभी मतो को समान बतलाते हैं, वे अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी हैं।

परीक्षा करके स्वीकार करने की बुद्धि, न तो आभिग्रहिक-मिथ्यात्वी मे होती है और न अनाभिग्रहिक-मिथ्यात्वी मे। इस दृष्टि से दोनो समान होते हुए भी दोनो मे एक खास भेद रहा हुआ है। पहला किसी एक मिथ्यापक्ष का समर्थक बन कर अन्य का खडन करता है, तब दूसरा किसी का विरोध नही करके सब को समान रखता है। दोनो मे यही खास भेद है।

बहुत-से लोग ऐसे होते हैं कि जिनमे किसी एक पक्ष का आग्रह तो नही होता, किंतु वे गुण-दोष के परीक्षक भी नही होते। धर्म और अधर्म का भेद समझने मे उनकी बुद्धि काम नही करती। वे संसार-मार्ग और मुक्ति मार्ग को समान मानते हैं। बन्ध और निर्जरा पुण्य और सवर, मुक्त और अमुक्त तथा साधु और असाधु, इन सब मे अभेद-बुद्धि रखते हैं। इस प्रकार की मान्यता, वे धर्म के विषय मे ही रखते हैं। सासारिक विषयो मे वे भेद मान सकते है। पत्थर और हीरा, लोहा और सोना, घोडा और गधा, इत्यादि वस्तुओ को वे समान रूप से नही मानते। अशुद्ध सोने का, शुद्ध सोने के समान पूरा मूल्य नही देते। वस्त्र को भी वे परीक्षा करके लेते हैं। वनस्पति-घृत का मूल्य, असली घृत के बराबर नही चुकाते और वेश्या को माता के समान वदनीय नही मानते, किंतु धर्म के विषय मे उनकी विवेक-बुद्धि कुंठित हो जाती है। वे सभी धर्मों को समानरूप से मान कर 'सर्वधर्म समभाव' का सिद्धात बना लेते हैं। राजनैतिक नेताओ को वे धर्म-नेता या

इससे भी आगे बढकर 'धर्म देव' मानने को तय्यार हो जाते हैं और अपनी इस विवेक-हीनता को गुण मानकर इसका प्रचार भी करते है। उनकी दृष्टि मे अच्छा, बुरा, खरा, खोटा, ऊँचा, नीचा और हेय उपादेय का विचार करना अनुचित होता है। इसे वे साम्प्रदायिकता कहकर निन्दा करते है। उनकी मान्यता होती है कि 'पक्षपाती और साम्प्रदायिक लोग ही विभिन्न मतो (जो लोक भाषा मे 'धर्म' कहलाते हैं) मे भेद मानते हैं।' वास्तव मे वे विवेक-विकल है।

वेश की प्रधानता नहीं

कई भोले बन्धु कहा करते हैं कि–'हमे किसी के गुण-दोष देखने की क्या आवश्यकता है ? हमें तो साधु वेश देखकर ही उनका आदर सत्कार और वंदन व्यवहार करना चाहिए। जिस प्रकार रुपये की छाप होने पर ही कागज का नोट चलता है, उसी प्रकार वेश होने पर ही साधु की पूजा होती है। नोट के चलन में कागज की ओर नही देखा जाता, उसी प्रकार साधु के या धर्म के गुणदोष देखने की जरूरत नही है।" इस प्रकार कहने वाले, अधर्म का पोषण करते हैं। वे यह नही सोचते कि करन्सी से निकला हुआ राजमान्य नोट ही गुण युक्त है। उसके पूरे रुपये प्राप्त हो सकते हैं। किंतु वैसी ही छापवाला नकली गुण-शून्य नोट–'जाली' कहलाता है और ऐसे जाली-नोट चलाने वाला अपराधी होता है। वैसी ही छाप होते हुए भी गुण-शून्य नकली नोट नही चलता। उसी प्रकार गुण-शून्य साधु भी मात्र वेश के कारण नही पुजा जाता और वीतरागता तथा सर्वज्ञता से रहित,

रागी-द्वेषी छद्मस्थ को देव नही माना जाता । जिस प्रकार वेश होने मात्र से नाटक का नकली राजा और सिनेमा के नकली अवतार, आदर-पात्र नही होते, सोने का रग चढ़ाया हुआ लोहा, सोने का मूल्य नही पा सकता, उसी प्रकार दूषित तथा गुण-शून्य साधु भी पूजनीय नही होता और उसी प्रकार धर्म-संज्ञा प्राप्त कर लेने पर भी अधर्म, धर्म नही बन जाता ।

धर्म, मनुष्य की आवश्यकता ?

कई पठित एवं उपाधिधारी लोग कहते और लिखते हैं कि–'समय की आवश्यकता के अनुसार धर्मों की उत्पत्ति होती है'। एक विद्वान और तर्कबाज लेखक ने लिखा कि–"गोवध की प्रवृत्ति जब प्रारम्भ हुई, तब वह भी धर्मरूप ही थी। दुष्काल के कारण मनुष्यो की रक्षा ही नही हो सकती थी, तब पशुओ का पालन कैसे हो सकता था । उस समय मानव रक्षार्थ पशुवध शुरू हुआ, तो यह भी धर्म ही था । इसमे भी मानव रक्षा का महान् उद्देश्य रहा हुआ था ।" इस प्रकार याज्ञिक-हिंसा आदि अनेक अधर्मों को भी झूठे तर्क लगाकर धर्म बताने और समन्वय करने की कुचेष्टाएँ हुई हैं ।

समन्वयवृत्ति

कई लोग, अनेकांत के महान् सिद्धान्त को आगे करके और अधर्मों की अनेक बुराइयो की उपेक्षा करके, किसी एक थोडी-सी अच्छी बात से, सर्वोत्कृष्ट जैनधर्म का समन्वय करने

की कुचेष्टा कर चुके हैं और कर रहे है। वास्तव मे यह अनेकात का दुरुपयोग है। जैन सिद्धात ऐसे दुरुपयोग को स्वीकार नही करता। जिसमे मिथ्यात्व रहा हुआ है, वह यदि कुछ जीवो की दया पाले और अपने को अहिसक बतलावे, तो भी उसके प्रत्याख्यान को 'दुष्प्रत्याख्यान' माना गया है और उसे असयत अविरत, अनिवृत्त और एकात-बाल * माना है। श्रीआर्द्रकुमार मुनि ने हस्ति-तापसो और बौद्धादि के झूठे समन्वय को भी स्वीकार नही किया ×। व्यवहार मे भी सेरभर दूध मे बिंदुभर विष हो, तो नही पिया जाता। लेकिन धर्म का जहां सवाल आया कि नामधारी विद्वान्, अनेकात को आगे करके सभी धर्मों को समान बताने की कुचेष्टा करते है। यदि अनेकात के साथ हेय, ज्ञेय और उपादेय के विवेक को स्वीकार किया जाय, तो सारे दोष दूर हो सकते है।

सभी समान नहीं

सर्व-धर्म समभाव का प्रचार करने वाले लोग, जैन नही। वे भगवती सूत्र श. ३ उ. २ लिखित उस तामली तापस जैसे हैं, जो 'प्रणामा' नामकी प्रव्रज्या का पालक था और कौआ, कुत्ता आदि सब को प्रणाम करता था। विश्व के सभी जीवो को परमात्म-मय मानकर प्रणाम करने का सिद्धात, आज भी पढने मे आता है। जैसे—

"सिय-राम मय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि जुग पानी।"

* भगवती ७-२। × सूयगडाग २-६।

यहा सरलता कोमलता एव नम्रता तो है, लेकिन हेय, ज्ञेय, उपादेय का विवेक नही है । महात्मा और कसाई सब को समान कोटि मे मानने की बुद्धि यहा स्पष्ट रूप से पाई जाती है । जैन-धर्म इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार नही करता । गुण-दोष की सम्यक् परीक्षा करने की दृष्टि और हेयोपादेय का विवेक जैन-धर्म ने स्वीकार किया है ।

जिस प्रकार भिन्न जाति की प्रत्येक वस्तु के मूल्य में अन्तर रहता है, सभी का मूल्य समान नही होता, उसी प्रकार सभी मत समान नही होते । जिस प्रकार अनेक प्रकार की धातुएँ और खनिज पदार्थ, पृथ्वी मे रहे हुए हैं, किंतु उनमे उत्तम जाति का रत्न सबसे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार ससार मे माने जाने वाले धर्मों मे कोई एक धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, सभी धर्म समान नही हो सकते ।

साधारण बुद्धि वाले बन्धुओ की समझ मे सरलता से आ जाय, इस दृष्टि से धर्म के जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे तीन भेद किये जा सकते हैं ।

जघन्य धर्म—इस कोटि मे वे धर्म आते हैं, जिनमे पापी-प्रवृत्तियो की प्रधानता रही हुई है । अपने हित और सुख के लिये दूसरो का अहित करना, दु ख देना और हत्या करना उनमे उपादेय होता है । पशु-बलि आदि पाप कर्मों का विधान किया जाता है । धर्म, देव और राष्ट्र के नाम पर अत्याचार किया जाता है । इस प्रकार भौतिकवादी विचार धराने वाले धर्म, अधोगति के दाता है । अधर्मी होते हुए भी ऐसे लोग धर्मी

कहावें तो भी वे हेय-कोटि मे ही आते है।

मध्यम धर्म--जो दुखियो की सेवा करना, रोगियो को औषधि देना, अपना बस चलते अपने परिचय मे आने वाले स्थूल जीवो को कष्ट नही पहुचाना, निरक्षरता मिटाना, बेकारो को रोजी दिलाना, न्याय-नीति से जीवन व्यतीत करना, द्वेष कलह और झगडो को मिटाकर पारस्परिक प्रेम का प्रचार करना, और लोभ तृष्णा तथा क्रोधादि को कम करना--जिनका उद्देश्य है, वे सब मध्यम कोटि के धर्म हैं। उनकी न तो मोक्ष मे श्रद्धा है और न उच्च आचार का पालन है। ऐसे मध्यम-मार्गी विचार रखने वाले मत, दूसरी श्रेणी मे आते हैं।

उत्तम--सर्वोत्तम धर्म वही है जो सर्वोत्तम स्थिति को प्राप्त करने का उद्देश्य रखता है। परमार्थ (मोक्ष) प्राप्ति ही जिसका ध्येय हो, परमार्थ साधना मे निवृत्ति का सहारा लेकर आत्मा को हलका बनाने की साधना हो, ऐसा आभ्यन्तर दृष्टि प्रधान धर्म ही सर्वोच्च स्थान पा सकता है। ऐसा सर्वोच्च धर्म भी उत्तम रत्न की भाति एक ही हो सकता है और वह है--श्री जिन-धर्म। इसकी विशेषताए अजोड है, अद्वितीय हैं। संसार का कोई भी धर्म इसकी समानता नही कर सकता। इस प्रकार उत्तम धर्म पाकर भी जो इसकी सर्वोच्चता नही मानकर--'सर्व-धर्म समभाव' के मोहक चक्कर मे पड गए है, वे वास्तव मे समझदार नही है और अनाभिग्रहिक-मिथ्यात्व को अपनाये हुए हैं।

हमारे जमाने मे लाखो जैनी, इस मिथ्यात्व के चक्कर

मे फँस गए। यह एक मोहक मिथ्यात्व है। साधारण जनता, सरलता से इसके चक्कर मे पड जाती है। श्रद्धा बिगाडने मे इस मिथ्यात्व का उपयोग बहुत हुआ है। जैन-जनता इस मिथ्यात्व से बचे, यही अभ्यर्थना है।

अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व के पात्र मे तटस्थ-वृत्ति होती है। यदि उन्हे समझाने वाला मिले और श्री जिनधर्म की सर्वोच्चता उनके ध्यान मे आजाय, तो वे सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। उनसे यह मिथ्यात्व छूटना सरल होता है, किंतु यदि उनमें आग्रह आजाय तो वे आभिग्रहिक मिथ्यात्व मे चले जाते है। कई जैन कहाने वालो के मानस तो ऐसे होते हैं कि जैनधर्म की विशेषता समझने पर भी लौकिकवाद से प्रभावित होकर, वे अपने आग्रह को दृढता से पकड रखते है। उनके समझने के लिए अनेक साधन होते हुए भी वे अपने आग्रह को नही छोडते और अपने सर्वधर्म-समभाव के सिद्धात के--जो उन्होने दूसरो से प्रभावित होकर अपनाया है, आग्रही बन जाते है। वे अभिनिवेश-मिथ्यात्व मे ही चले जाते हैं, फिर उनका स्थान अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व मे भी नही रहता।

१३ आभिनिवेशिक मिथ्यात्व

अपने पक्ष की असत्यता समझकर भी जो उसे दृढता पूर्वक पकड रखे और उसे सत्य सिद्ध करने के लिए प्रपञ्च करे, वह 'अभिनिवेश मिथ्यात्व' का पात्र है।

इस मिथ्यात्व मे पक्ष-व्यामोह की प्रधानता होती है।

अहकार इस मिथ्यात्व का मूल है। प्रतिष्ठित और बहुजन-मान्य व्यक्तियो मे से भूल को सुधारकर सत्य अपनाने वाले विरले ही होते हैं। अधिकाश अपनी, और अपने पक्ष की असत्यता का अनुभव करते हुए भी केवल अहकार के कारण उस असत्य को पकड़ रखते है और अपनी विद्वत्ता, योग्यता, प्रतिष्ठा तथा सबध का उपयोग कर के सत्य-पक्ष को दबाने और नष्ट करने का प्रयत्न करते रहते हैं। वे सोचते हैं,–

"यदि मैं अब अपनी भूल स्वीकार करलूंगा, तो लोगो मे मेरी प्रतिष्ठा घट जायगी, और सामने वाले की प्रतिष्ठा बढ जायगी,"–इस प्रकार का दुर्विचार इस मिथ्यात्व का मूल कारण है। उस समय वह यह नही सोचता कि 'जहा तक छद्मस्थता है, वहा तक भूल होने की सम्भावना है ही। इसलिए इस भूल के शूल को शीघ्र ही दूर करके अपनी आत्मा को शुद्ध बनालूं।"

सम्यग्दृष्टि चाहकर भूल नही करता, किंतु अनुपयोग अथवा गलत धारणादि के योग से भूल होजाती है, यदि उसे मालूम हो जाय कि 'मेरी कही हुई अथवा लिखी हुई बात गलत है,' तब शीघ्र ही उस भूल को सुधार कर सत्य स्वीकार करने को वह तत्पर रहता है। यह तत्परता और भूल-सुधार उसे मिथ्यात्व से बचाते हैं। उसकी भावना मे अपनी भूल प्रकट होने का भय नही, किंतु भूल दूर होकर सत्य प्रकट होने की प्रसन्नता होनी चाहिए। उस मे यह भावना हो कि "मेरे द्वारा कभी भी सत्य का अपलाप नही हो"। यह बात जितनी कहने मे सरल है, उतनी करने मे सरल नही है। कहते तो दोनो

पक्ष वाले ऐसा ही है, परन्तु करते समय अप्रतिष्ठा का विचार सामने आकर खडा हो जाता है और उस आत्मा को अभिनिवेश मिथ्यात्व मे ले जाता है। कमलप्रभ. आचार्य ने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के कारण ही सत्य को छुपा कर अनन्त ससार बढाया था। हम अपने जीवन मे ऐसे कई प्रसग देख चुके और देख रहे हैं। हमारे सामने ऐसे अनेक प्रमाण है कि जिसमे प्रतिष्ठा के भूत के प्रभाव से, असत्य पक्ष को पकडे हुए अनेक व्यक्ति बैठे हैं। लोकाशाह की क्रान्ति का कारण क्या था? सस्कृति-रक्षक सघ स्थापना का निमित्त क्या हुआ? हमारी धर्म-सम्मत आगम-सम्मत एवं अकाट्य बाते स्वीकार क्यो नही हुई? आगमो मे हुआ परिवर्तन, सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है, उसे साधारण मनुष्य भी समझ सकता है, किंतु इस प्रतिष्ठा के भूत ने किसी को अपना हठ नही छोडने दिया। साधुओ की गोचरी के विरुद्ध. विद्रोही विचार प्रकट करने वाले ने, अपने असत्य को सत्य बताने के लिए, आगमो को अप्रामाणिक बताने की कोशीश तो की, परन्तु अपनी भूल स्वीकार नही की। जब कि जैन-जनता जानती है कि सवर युक्त जीवन वाले जैनमुनि, आस्रवपूर्ण जीवन नही बिता सकते, और बिना आस्रवी जीवन के स्वोपार्जित भोजन निष्पन्न नही हो सकता। आस्रवमय जीवन, जैन गृहस्थो का है, साधुओ का नही। बिना किसी दबाव से, भक्ति पूर्वक दिये हुए स्वल्प भोजन को 'खून' जैसी एकान्त खोटी उपमा देना, विद्वत्ता के नाम पर भारी कलंक है। जिसे प्रेम से पिलाये हुए माता के दूध की उपमा दी जानी

चाहिए, उसे जीवित मनुष्य की चमडी मे से बरबस निकाले हुए खून की नीचातिनीच उपमा देकर और उसके द्वारा जैन मुनियो के प्रति अपनी भयंकर घृणा व्यक्त करते हुए भी जो सच्चे बनने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, उन पर अभिनिवेश का पूरा प्रभाव है। और इस खोटे पक्ष को अनेको ने तथा प्रसिद्ध सस्था ने अपने गले मढ लिया है। इस प्रकार अभिनिवेश मिथ्यात्व के प्रभाव मे अनेक व्यक्ति आगए हैं।

कई लोग "हम वाद-विवाद पसंद नही करते। आलोचनाओ मे क्या धरा है, हम तो इनकी उपेक्षा ही करते है," इत्यादि शब्दो से उपेक्षा करके शान्ति के उपासक-सा डोलकर चुपचाप रहते हैं। यह ठीक है कि इससे वाद-विवाद नही बढता, परन्तु इस चुप्पी की ओट मे असत्य को छुपाया जाता है और सत्य की बलि देकर शान्ति के उपासक का दभ होता है। हार्दिक सरलता और सत्यप्रियता तो तब मानी जाय कि अपने असत्य को—अपनी भूल को उसी प्रकार जाहिर मे स्वीकार कर मिथ्या-मल को दूर किया जाय, जिस प्रकार असत्य का प्रचार किया था।

बहुत से लोग द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की ओट लेकर मनमानी खोटी मान्यता चलाते हैं। कई प्रतिसेवना-कुशील और बकुस निर्ग्रंथ के चारित्र की ओट मे, महाव्रत भंग जैसे बडे दोषो का—अनाचारो का बचाव करते हैं। ये सब मिथ्या बाते हैं। द्रव्य क्षेत्र और काल, यह नही कहता कि तुम औदयिक भाव मे धर्म मानो। किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे बन्ध को धर्म नही माना जाता, संवर-निर्जरा को ही धर्म के साधन

माना जायगा। आज भी कोई आगमानुसार प्ररूपणा करे और संयम का रुचिपूर्वक पालन करे, तो द्रव्य-क्षेत्रादि की बाधा उत्पन्न नही होती। परिहार-विशुद्ध, सूक्ष्म-सपराय तथा यथा-ख्यात चारित्र और भिक्षु-प्रतिमा के लिए द्रव्य-क्षेत्रादि की बाधा चल सकती है, सामान्य साधुता के लिए नही और श्रद्धा मे तो कुछ भी बाधा नही आती। किंतु विकारी-दृष्टि वाले लोग, द्रव्य-क्षेत्रादि की खोटी ओट लेकर मिथ्या प्रचार करते रहते हैं।

कई लोग "काले कालं समायरे" इस एक चरण को लेकर भ्रम फैलाते हैं, किंतु इसके पहले के तीन चरण छोड देते हैं, जिसमे लिखा है कि—

"कालेण णिक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे"

(उत्तरा १–३१)

इसमे लिखा है कि भिक्षाकाल के समय ही गोचरी के लिए निकले और पुन यथाकाल ही वापिस लौट आवे तथा अकाल को छोडकर नियत समय पर ही उस काल की क्रिया करे, अर्थात् प्रतिलेखना, स्वाध्याय, ध्यान, गोचरी, प्रतिक्रमणादि सभी क्रिया यथाकाल ही करे। इस विधान का उल्टा अर्थ लगाकर, काल (जमाना) अर्थात् जमाने के अनुसार चले। बस उल्टी मति को जैसा-तैसा शास्त्र प्रमाण मिलगया। यह हालत है—मिथ्याभिनिवेश की।

अभिनिवेश-मिथ्यात्व की उत्पत्ति प्राय. सम्यग्दृष्टियों

मे ही होती है। जिस सम्यग्दृष्टि विद्वान से, भूल अथवा संशय से, या फिर औरो के प्रभाव से सिद्धात के विरुद्ध प्ररूपणा हो जाती है, वह फिर अभिमान वश छूटती नही। फिर वह किसी भी प्रकार से उसे सच्ची सिद्ध करने की ही चेष्ठा करता है। इतिहास प्रसिद्ध निन्हवो मे, आग्रह के जरिये यह अभिनिवेश मिथ्यात्व घुसा था। यह अभिनिवेश मिथ्यात्व, सयमियो के सयम को भी विषमय बना देता है।

धर्म में सौदा नहीं

कुछ बन्धुओ ने धर्म को भी सौदे की चीज बनाली। उनका कहना है कि कुछ तुम्हारी बात रख दे, कुछ उनकी और झगडा साफ कर दिया जाय। उनकी दृष्टि मे सिद्धात और तत्त्व भी बीच-बचाव की चीज होती है। उनका प्रयत्न होता है कि दोनो को कुछ न कुछ अपना छोडना और विपक्षी का अपनाना पडता है, तभी समझौता होता है। आस्रव पक्ष वाले को कहे कि 'तू थोड़ा सवर पक्ष अपना ले और सवर पक्ष को कहे कि तू थोडा आस्रव अपना ले, तभी समझौता होगा'। इस प्रकार मिश्रधर्म बनाने वाले, यह नही समझते हैं कि धर्म किसी की बपौती नही कि वह चाहे जैसे फैसले या समझोते मे बाँध सके, या उसमे चाहे जो न्यूनाधिक कर सके। रुपये के पौने सोलह आने या नये ९९ पैसे करने का किस को अधिकार है?

आगमोक्त सत्य पर दृढ रहना, सम्यक्त्व की साधना है। यह भूषण है दूषण नही, दूषण है असत्य को जानबूझकर पकड़ रखना और यही आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।

१४ सांशयिक मिथ्यात्व

देवादि के विषय मे अथवा तत्त्व के विषय मे शकाशील होना–साशयिक-मिथ्यात्व है ।

जिनागमो मे निरूपित तत्त्व, मुक्तात्मा के स्वरूप अथवा जिनेश्वरो की वीतरागता सर्वज्ञतादि मे संदेह करना, आगमों की 'अमुक बात सत्य है या असत्य'–इस प्रकार की शंका करना, इस मिथ्यात्व के उदय का परिणाम है ।

शका तो सम्यग्दृष्टि के मन मे भी उत्पन्न होती है । आगम की कोई बात समझ मे नही आने पर सम्यक्त्वी के मन मे भी शंका का प्रादुर्भाव होता है, क्योकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे मिथ्यात्व के दलिको का प्रदेशोदय रहता है और उसके रहते परिणाम मे चलमल होता है । यह प्रदेशोदय ही शंका का कारण होता है । यदि शंका स्थिर हुई, तो साशयिक मिथ्यात्व हो गया । साशयिक मिथ्यात्व से बचने का एक मात्र संबल, जिनेश्वर के वचनो मे दृढ विश्वास होना है । यदि मन मे "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"–रूप आस्था दृढीभूत हो जाय, तो इस मिथ्यात्व से बचना बहुत सरल हो जाता है ।

आगामिक सत्यता

विचारक के सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है । वह सोचता है कि–"कौनसा आगम सर्वज्ञ-कथित है ? सभी लोग अपने अपने मान्य शास्त्रो को सर्वज्ञ-कथित एवं प्रामाणिक मानते हैं । दूसरो को छोड दें, तो जैनधर्म के दिगम्बर, श्वेताम्बर,

स्थानकवासी आदि सम्प्रदायो के भी आपस मे शास्त्र-भेद तथा मान्यता-भेद चल रहा है और नये नये भेद खड़े हो रहे हैं। आगमो के पाठ-भेद भी बहुत है और चाहकर परिवर्तन भी किए हैं, तब 'पुस्तक मे लिखा वह सभी जिनेश्वर प्रणीत ही है'– ऐसा कैसे विश्वास किया जाय ? प्रश्न उचित है। अपने शास्त्रो को भगवद्-कथित एव प्रामाणिक सभी मानते हैं, किंतु इनके परखने की कसौटी तो जैनियो के पास है ही। अजैन शास्त्रो की परीक्षा तो जैनी सरलता से कर सकता है। वह जानता है कि जिन शास्त्रो एवं वचनो मे,भौतिक सुख-समृद्धि की कामना, तथा रागद्वेष वर्द्धक और आरंभ परिग्रह समर्थक विधान हो, जिनमे विषय कषाय पोषक विषय हो, वे रागियो और छद्मस्थो के बनाये हुए हैं और उनसे ससार-परिभ्रमण ही होता है। जिनागम, इन दूषणो से रहित है, इसलिए आदरणीय है। इस प्रकार जैनेतर शास्त्रो से जिगागमो की उत्तमता स्वत सिद्ध है।

जैन सम्प्रदायो मे भी एक दूसरे की आगम सम्बन्धी मान्यता मे अन्तर है। श्वेताम्बर समाज के सर्व-सम्मत ३२ सूत्रो मे भी लेखको द्वारा अनजाने भी अशुद्धिये हो गई है और कही किसी ने चाहकर भी परिवर्तन किया है, जैसा कि 'सुत्तागमे' मे परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन आगमो के इतिहास की महान् कलंकित एवं अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण घटना है। इस भयकर दु साहस ने वहुतो के मन मे यह सन्देह भर दिया है कि "पहले भी किसी ने मताग्रह से पाठ परिवर्तन की कुचेष्टा की होगी ?"– इस प्रकार साधारण जनता को अत्यधिक सन्देहशील बनाकर

साशयिक-मिथ्यात्व मे डाल दिया। इसके सिवाय कुमार्गगामी तर्कवादियो ने भी साशयिक-मिथ्यात्व को बढाने के बहुत कुछ दुष्कृत्य किये हैं। फिर भी सुविज्ञ श्रद्धालु धर्मबन्धुओ की श्रद्धा को सुरक्षित रखने का महान् अवलबन आज भी मौजूद है। उपस्थित आगमो मे जैनधर्म की आत्मा, अभी भी सर्वथा सुरक्षित है। जैनधर्म का महान् उद्घोष है कि–'सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही मोक्ष मार्ग है। और मोक्ष मार्ग ही जैनधर्म का लक्ष है। बध और उसके कारण हेय है, और मोक्ष तथा उसके कारण (संवर निर्जरा) उपादेय है।' जो विधान उपरोक्त कसौटी के अनुकूल हो, वे सत्य है और विपरीत हो तथा लक्ष से दूर ले जाते हो, वे असत्य हैं। यदि समझने की इतनी बुद्धि हो, और हेय, ज्ञेय, उपादेय का विवेक हो, तो अपनी आत्मा को साशयिक मिथ्यात्व से बचाया जा सकता है।

"जिनेश्वर भगवंत वीतराग हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं"–इतना भी विश्वास हो और यह भी श्रद्धा हो कि–"वीतराग भगवत कभी भी आरभ-परिग्रह जन्य उपदेश नही देते," तो इस श्रद्धा के आधार पर सम्यग्श्रुत और मिथ्याश्रुत का विवेक किया जा सकता है और साशयिक-मिथ्यात्व से बचा जा सकता है।

भौतिक विज्ञान की क्षुद्रता

सांशयिक-मिथ्यात्व को बढाने के अन्य कारणो मे भौतिक-विज्ञान भी निमित्त बना है। भौतिक-विज्ञान के प्रभाव मे आये हुए कई 'जैन पंडित' कहाने वालो ने साधारण जनता को

शंकाशील बनाकर मिथ्यात्व मे धकेल दिया है। कोई कोई प्रसिद्ध विद्वान तो स्पष्ट लिख चुके हैं कि—"आजकल के वैज्ञानिक तथ्यो के आधार से आगमो मे संशोधन करना चाहिए,"—इस प्रकार लौकिक ज्ञान को आधारभूत मानकर, लोकोत्तर धर्म मे परिवर्तन करने की मिथ्या बाते प्रचलित कर के साशयिक-मिथ्यात्व का खूब विस्तार किया गया है। यह सभी जानते हैं कि भौतिक-विज्ञान भी अभी अपूर्ण ही है और सदाकाल छद्मस्थो के लिए अपूर्ण ही रहने का। साधना के चलते एक मनुष्य मे जो शक्ति विकसित हो सकती है, और उससे बिना किसी खर्चे के वह जो भौतिक शक्ति प्राप्त कर सकता है, उसका शताश भी इन भौतिक-विज्ञानियो मे नही है। जिनागमो मे बताया है कि साधना के बल पर प्राप्त की हुई वैक्रिय-शक्ति से मनुष्य, अपने लाखो करोडो रूप बना सकता है। अपनी ही आत्मशक्ति से करोड़ो मनुष्यो की सशस्त्र सेना बना सकता है और अपनी क्रुद्ध-दृष्टि मात्र से हजारो लाखो का संहार भी कर सकता है। वैक्रिय-लब्धि वाला मनुष्य, देव के समान शक्ति रखता है। लब्धि-सपन्न मुनि, जब प्रमादवश होता है, तब विना किसी वाहन के (जघाचरण विद्याचरण) थोड़ी ही देर मे लाखो माइल दूर जा सकता है। मन्त्रवादी साधु, थाली को आकाश मे चढाकर (नकली चाँद दिखाकर) अमावश्या की पूर्णिमा बता सकता है, और आहारक-लब्धि वाला साधु, अपने शरीर मे से ही छोटा-सा मानव बनाकर, मुहूर्त-मात्र मे लाखो माइल दूर भेजकर वापस बुला सकता है। तब आज का भौतिक विज्ञान, अरबों

डालर खर्च करके भी उनके समकक्ष नही पहुँच सका, और आगे भी नही पहुँच सकेगा। भौतिक-विज्ञान का प्रत्यक्ष-ज्ञान भी पूर्ण रूप से जिनेश्वरो मे ही था। उनके अनन्तवे भाग का ज्ञान रखने वाले को आधारभूत मानकर, उससे जिनेश्वरो के वचनों की परीक्षा करने की उल्टी बातो पर विश्वास करने वाले, सचमुच दर्शन-मोहनीय कर्म के पंजे मे पडे हुए हैं।

बुद्धिमान् पाठक, आत्मोत्थान में अनुपयोगी ऐसे भौतिक विज्ञान की क्षुद्रता पर विचार कर, इस मिथ्यात्व की जाल से बचे और अपनी आत्मा को साशयिक मिथ्यात्व के दलदल से बचावे, तथा निर्ग्रंथ-प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा रखे, यही निवेदन है।

१५ अनाभोगिक मिथ्यात्व

अज्ञान के गाढ अन्धकार मे पडे हुए जीवो को यह मिथ्यात्व लगता है। जिन जीवो को किसी भी प्रकार के मत का पक्ष नही होता, और जो धर्म-अधर्म का विचार ही नही कर सकते, वे अनाभोगिक मिथ्यात्वी है। पहले बताये हुए अन्य मिथ्यात्व तो मिथ्या विचार रखने वाले दर्शनो के पक्ष मे पडने या उनकी ओर ललचाने से लगते हैं किंतु यह मिथ्यात्व तो किसी भी पक्ष से निरपेक्ष रहने पर लगता है। एकेन्द्रिय से लगाकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव, इसी मिथ्यात्व के अन्तर्गत है। जिन जीवो के मन ही नही, वे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के विषय मे सोच ही नही सकते। अपने जीवन संबंधी बनी बनाई ओघ-दृष्टि के सिवाय उनमे मत-पक्ष की बात ही

नही होती। उनमे किसी प्रकार का वाद ही नही होता।

कई सज्ञी पंचेन्द्रिय जीव भी ऐसे होते हैं, जिनकी धार्मिक मत-मतान्तरो के विषय मे सोचने और पक्ष-विपक्ष को अपनाने की रुचि ही नही होती। उनके सोचने विचारने के विषय, अपनी आजीविका—धन्धा रोजगार या भोगोपभोग सबधी होते है। इसके सिवाय विभिन्न धार्मिक दर्शनो—मतो सम्बन्धी विचार करने की योग्यता ही उनमे नही होती अर्थात् उनकी विचार-शक्ति अत्यंत मंद होती है।

जिस प्रकार विवेकहीन व्यक्ति, अपना हिताहित नही सोच सकता, उसी प्रकार अनाभोग-मिथ्यात्वी भी आत्महित के विषय मे अच्छा बुरा कुछ भी नही सोच सकता।

अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक और साशयिक मिथ्यात्व उन्ही जीवो मे होता है—जो अभव्य नही हो। क्योकि अनाग्रह-वृत्ति जैसी उज्ज्वलता, अभव्य मे आना सभव नही लगता, और अभिनिवेश का सम्बन्ध तो उसी से होना संभव है, जो सम्यग्-दृष्टि रहा हो और बाद मे किसी विषय मे मिथ्यापक्ष पकडकर आग्रही बन गया हो। तथा साशयिक-मिथ्यात्व भी उसे ही लगना संभव है, जिसे पहले श्रद्धा हो चुकी हो और बाद मे संशय हुआ हो।

अभव्य को आभिग्रहिक और अनाभोगिक मिथ्यात्व ही हो सकता है और भव्य को सभी। असंज्ञी अवस्था मे केवल अनाभोग-मिथ्यात्व लगना संभव है। यद्यपि भव्य मे सभी प्रकार के मिथ्यात्व लगना संभव है, तथापि एक समय मे किसी

एक प्रकार का ही मिथ्यात्व होता है।

अनाभोग-मिथ्यात्व मे जीव ने जितना समय गँवाया, उतना अन्य मिथ्यात्व मे नही गँवाया। अनन्तकाल की स्थिति है, तो केवल अनाभोग-मिथ्यात्व की ही। वनस्पतिकाल जितनी स्थिति इसी मिथ्यात्व की है।

तटस्थता नहीं

यदि कोई सोचे कि—'यह स्थिति पक्षपात और मतवाद रहित तटस्थ अवस्था की है। जो पक्षपात मे पड़कर एक को खरा और दूसरे को खोटा कहते हैं, उनकी अपेक्षा यह स्थिति अच्छी है,'—इस प्रकार सोचने वाले वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ हैं। यह स्थिति तटस्थता की नही, किंतु उस बेहोश व्यक्ति जैसी है, जिसे अपने हिताहित का कोई भान ही नही है। कोई लूट ले, काट डाले या जला डाले, तो भी वह कुछ भी नही कर सकता। मन के अभाव में इस प्रकार की गाढ-मूढता को तटस्थता अथवा निष्पक्षपातता कहना—वैसी ही भूल है,जैसी अपंग, मूच्छित और मरणासन्न व्यक्ति को क्षमाशूर मानने मे है।

अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी मे तटस्थता होती है, किंतु वह तटस्थता सत्य और असत्य के मध्य होती है। इसलिए वह सत्य का आदर करने वाला भी नही माना जाता, क्योकि वह दोनो को समान कोटि मे स्थान देता है। सम्यग्दृष्टि वही हो सकता है, जो असत्य पक्ष को नही अपनाता है और सत्य को स्वीकार करता है। मिश्र-पक्ष की दशा शुद्ध नही, मैली ही होती है।

१६ लौकिक मिथ्यात्व

लोकोत्तर परम-सत्य को और उसके निमित्त सुदेव, सद्गुरु और सम्यग्-धर्म की उपेक्षा करके, लौकिक उपास्य की उपासना करना–"लौकिक-मिथ्यात्व" है। इसके तीन भेद हैं। १ देव विषयक २ गुरु विषयक और ३ धर्मगत लौकिक-मिथ्यात्व।

देव विषयक लौकिक मिथ्यात्व

जो रागद्वेष से युक्त है, जो कामी, क्रोधी, मायावी, लोभी और अहंकारी हैं, जिनका अज्ञान नष्ट नही हुआ। जो भक्तो को वरदान और विरोधियो को शाप देते हैं, जिनके गले मे नरमुड की माला है, जिनके हाथ मे शस्त्र है और बगल मे स्त्री है, तथा जो वाहन पर सवार होते हैं, वे सब लौकिक देव हैं। वे खुद लोक मे ही रचे हुए हैं और लोक मे परिभ्रमण करते रहने की उनकी परिणति है। उनके बताये विधिविधान भी लौकिक जीवन को ही स्पर्श करते हैं। इस प्रकार के लौकिक देवो को सुदेव के रूप मे मानना मिथ्यात्व है।

लौकिक कार्य के लिए ?

यदि कहा जाय कि–"हम उन्हे सुदेव नही मानते और मोक्ष के लिए उनकी उपासना नही करते, किंतु सासारिक स्वार्थ की सिद्धि के लिए उन्हे मानते हैं, इसलिए हमे मिथ्यात्व नही लगता। श्रावको के लिए छ आगार भी तो सूत्र मे रखे गये हैं" ? इस प्रकार के बचाव के समाधान मे कहा जाता है कि–

स्वार्थ के कारण मिथ्यात्वी देवो को मानना, श्रावक का कर्त्तव्य नही है। जिसके मनमे यह दृढ-श्रद्धा हो कि–"कर्म का फल अवश्य ही भोगना पडता है। इन लौकिक देवो की यह शक्ति नही कि हमारे कर्म-परिणाम को पलट सके," वे तो इस मिथ्यात्व से दूर ही रहते हैं।

श्रावको के जो आगार है, उनमें पाँच तो दूसरे व्यक्तियो के दबाव के कारण है। वहा उस श्रावक का हृदय, उन देवो के प्रति भक्ति नही रखता, किंतु दबाव के कारण उसका शरीर झुकता है। दूसरो का दबाव शरीर पर ही चल सकता है, भावो पर नही। अतिम आगार विषम परिस्थिति को पार करने से सबधित है, वह भी ऊपरी मन से। किंतु अभी तो स्थिति ही दूसरी है।

लोग, जिन्हे 'देव' कहते हैं, वहाँ देव का सद्भाव भी है, या सब पोलंपोल ही है,–यह कोई नही देखता। भेडचाल मे पडकर चाहे जिस मूर्ति या चित्र के आगे भावपूर्वक झुक जाना भी वैसी ही मूर्खता है, जैसी मुर्दे के साथ अलाप-संलापादि क्रिया करना है।

कितनी बड़ी भूल

बिना किसी खास कठिनाई के खोटी रुढि के वश होकर, अथवा भोदू बनकर, त्योहारो के अवसरो पर कल्पित देवो को मनाना भी केवल मिथ्यात्व सेवन करना है, क्योकि वहा न तो कोई कठिनाई है और न कोई दबाव ही। एक खोटी रुढ़ि को मूर्ख बनकर चलाना है। हमारी कितनी गहरी भूल है

कि हम ऐसी जड वस्तुओ को भी पूजते हैं कि जिनके पीछे किसी देव की कल्पना ही नही है। जैसे—वही, दावात, कलम और सोना, चाँदी, रुपया आदि धन। कई जैन व्यापारी, सदैव प्रातःकाल दुकान को प्रणाम करते है, कल्पित चित्रों को प्रणाम करते है, उस समय उन्हें 'जिनेश्वरो के उपासक' कहना या 'जड़ोपासक—धनोपासक' कहना ?

लग्न का प्रारम्भ ही मिथ्या देव की पूजन के साथ किया जाता है। पहला मंगल-गान भी उन्ही का होता है और पहला आमन्त्रण-पत्र भी उन्हे ही लिखा जाता है, उसके बाद दूसरे कार्य होते हैं। कुछ देशो मे—कुम्हार का चक्र उकरडी, कूडे-करकट का ढेर आदि अनेक चीजें पुजी जाती है। लग्न-विधि भी मिथ्या विधानो से युक्त होती है, तथा लग्न के बाद वर-वधू भैरू, भवानी, सीतला, हनुमान आदि अनेक लौकिक-देवो को पूजते है। यह सब व्यर्थ का मिथ्यात्व सेवन है।

वर्तमान मे कुछ सुधारको की दृष्टि "जैन विवाह पद्धति" अपनाने की ओर है। इस विषय की कुछ पुस्तकें भी पहले देखी थी, किंतु उनमें भी व्यर्थ के क्रिया-कलाप बहुत थे। वास्तव मे जैन-धर्म को किसी का विवाह कराना स्वीकार नही है। किंतु सभी जैनी अविवाहित रहे, यह असभव है। इसलिए लग्न बंधन से मोह को मर्यादित करने के लिए लग्न किये जाते हैं। लग्न का उद्देश्य ही वर-वधू का सम्बन्ध जोडना है, जो सर्वत्र—सभी जातियों, सभी वर्गों, सभी देशो और सभी राष्ट्रो मे समान रूप मे है। इसमे कोई अन्तर नही है। इस उद्देश्य के

साथ जो रीति-रिवाज और विधि-विधान लगे हैं, वे सब भिन्न भिन्न हैं। उनमें परिवर्तन हो सकता है। जैनियो को ऐसी विधि अपनानी चाहिए कि जिसमे अनुचित एव व्यर्थ जैसा कुछ भी नही हो और हितकारक पद्धति हो।

सम्बन्ध उन्ही के साथ हो, जहा आचार, विचार, स्वभाव तथा वय आदि समान हो। सम्बन्धियो की साक्षी से वर-कन्या को परस्पर वचनबद्ध करना और वर को 'स्वदारसतोष' तथा कन्या को 'स्वपति-संतोष' व्रत धारण करवाना चाहिए। व्रत की प्रतिज्ञा गुरु के समक्ष अथवा योग्य व्रती-श्रावक के समक्ष होकर मंगल-पाठ के साथ लग्न-विधि पूर्ण हो सकती है। इसमे न तो किसी देव देवी के मनाने की आवश्यकता रहती है और न हवन-पूजनादि की। महिलाओ द्वारा मंगलगान भी तदनुरूप ही हो। इस प्रकार सरलतापूर्वक लग्न-क्रिया सपन्न कर लौकिक मिथ्यात्व से बचा जा सकता है।

जैनियो के त्योहारो और लग्न-प्रसग पर ही नही, अन्य कई प्रसंग पर भी लौकिक मिथ्यात्व का सेवन होता है। जैसे 'माता,' 'मोतीझरा' आदि कई रोगो को देवरूप मानना। इस प्रकार की जितनी भी क्रियाएँ है, वे सब लौकिक देव विषयक मिथ्यात्व है।

गुरु विषयक लौकिक मिथ्यात्व

लोकोत्तर गुरु वेही हैं, जिनका लक्ष्य लोकोत्तर है और लोकोत्तर लक्ष रखते हुए तदनुसार आचार का पालन करते–

कराते हैं। लोकोत्तर आचार अर्थात् ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का पालन कर, निरवद्य जीवन व्यतीत करते हैं। जिनका आचार-विचार और प्रचार लोकोत्तर हो, लौकिक नही हो, वे 'लोकोत्तर गुरु' कहलाते हैं। इसके सिवाय सब लौकिक-गुरु हैं। लौकिक गुरु को लोकोत्तर मानना मिथ्यात्व है और उनको लौकिक मानते हुए भी उनकी सेवा-भक्ति आदि करना भी मिथ्यात्व है। कलाचार्य और शिल्पाचार्य, लौकिक धर्म-गुरु नही कहलाते। अन्य साधनो के अभाव मे अन्य-धर्मियो के पास कला सीखने जाना—एक बात है और लौकिक-गुरुओ की सेवा-भक्ति करना—दूसरी बात है।

आजकल लोकोत्तर गुरु कहलाने वालो मे से किन्ही मे लौकिकता आगई है। वे ससार-लक्षी सावद्य प्रचार करते हैं। ऐसे लोगो को लोकोत्तर गुरु नही माना जा सकता, क्योकि लौकिकदृष्टि वाले लोकोत्तर नही हो सकते। यदि जैनियो मे यह मिथ्यात्व नही होता, तो साधुओ को लौकिक-मिथ्यात्व सेवन करने की हिम्मत नही होती।

धर्मगत लौकिक मिथ्यात्व

सवर, निर्जरा और मोक्ष ही धर्म है। इनमे मोक्ष, साध्य है और सवर निर्जरा साधन हैं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यग् तप, इन चार (प्रथम के दो साधन नेत्र रूप, और बाद के दो चरण रूप हैं) से मोक्ष की ओर गमन होता है। पुण्य स्वत. तो बंध रूप ही है, किंतु यह मिथ्यादृष्टि

के लिए संसार का और सम्यग्दृष्टि के लिए मोक्ष मे कथचित् सहायक हो सकता है, फिर भी तत्त्व-दृष्टि से यह बंध का कारण होने से धर्म मे नही गिना जाता। इस प्रकार बन्ध को रोकने अर्थात् आस्रवद्वार को बंद करने और बध को काटने की प्रवृत्ति के सिवाय जितनी भी आस्रव और बध की क्रियाएँ है, वे सम्यक् चारित्र नही है। संसार की दृष्टि से जितनी भी धार्मिक साधना की जाती है, वह सब धर्मगत मिथ्यात्व है।

अजैन सम्पर्क के प्रभाव से, जैनियो मे अनेक मिथ्या-क्रियाएँ प्रचलित हैं, जो लौकिक धर्मगत मिथ्यात्व को सिद्ध कर रही है। अजैन-परंपरा मे मरणासन्न व्यक्ति को पलग अथवा बिस्तर पर नही मरने दिया जाता। उसे नीचे पृथ्वी पर लिटाकर यह माना जाता है कि "वह पृथ्वी माता की गोद मे चला गया और इससे इसे धर्म एव सद्गति हुई"। जैन-सिद्धात कहता है कि मरणासन्न व्यक्ति को महा-वेदना होती है। इसलिए उसे हिलाना भी नही चाहिए। उसके लिए यही उचित है कि धर्म की ओर लक्ष दिलाकर उसकी भावना शुभ रखी जाय, जिससे उसकी शुभगति मे सहायता हो। किंतु अजैन प्रभाव के कारण जैनी लोग भी पृथ्वी को गोबर से लीप कर, मृत्यु की महा-वेदना से घिरे हुए दुखी जीव को, बिस्तर पर से हटाकर पृथ्वी पर सुलाते है और उसके दुःख मे अत्यधिक वृद्धि कर हिंसा के भागीदार बनते हैं। यह कितनी मूर्खता है। वे यह क्यो नही समझते कि सद्गति अथवा दुर्गति, जीव को अपनी करणी से ही होती है, पृथ्वी पर प्राण निकलने से नही। यदि

पृथ्वी पर मरने से ही सुगति होती, तो एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के तिर्यंच, नारक और बहुत-से दरिद्र मनुष्य, पृथ्वी पर ही प्राण छोडते हैं, वे सभी धर्मात्मा और सद्गति के पात्र हो जाते, फिर भले ही उनमे हत्यारे, चोर, डाकू और नर-संहारक तथा अन्त तक अशुभ-परिणामी हो रहे हो ?

मृत्यु के बाद दूसरे तीसरे दिन मृतक के लिए भोजन बनाकर स्मशान मे लेजाना, पानी ढोलना, नुकता-मोसर आदि सब मिथ्या-क्रियाएँ है। जैनियो को इस मिथ्यात्व से अपना पिंड छुड़ा लेना चाहिए।

जो सज्जन, 'प्रमुख श्रावक' अथवा 'अग्रसर श्रमणोपासक' कहकर, इस प्रकार के लौकिक-मिथ्यात्व का सेवन करते है, वे साधारण श्रावको की मिथ्यात्व मे रुचि बढ़ाने वाले होते है। भले ही अग्रसर श्रावको की रुचि, लौकिक-मिथ्यात्व की ओर नही हो और वे चालू रूढि का ही रुक्ष-भाव से निर्वाह करते हो, तो भी उनको मिथ्यात्व लगता है और साधारण श्रावक उनका अनुकरण करते है, इससे दूसरो के मिथ्यात्व सेवन मे वे अनुमोदक बनते हैं। इसलिए इन मिथ्या ढकोसलो का अन्त करना, प्रमुख श्रावको का कर्त्तव्य है।

विवेक एवं सद्विचार के अभाव मे तथा मानसिक दुर्बलता के कारण जैन समाज मे लौकिक-मिथ्यात्व का प्रचलन अत्यधिक हो रहा है। यह लौकिक-मिथ्यात्व, अधर्म को धर्म मानने रूप प्रथम मिथ्यात्व का साथी है। इस मिथ्यात्व से जैन समाज शीघ्र मुक्त हो, यही हितकर है।

बालक ने हजारों को छला

लौकिक-मिथ्यात्व के जोर से लोग, कैसे उल्लू बनते हैं, इसका ज्वलंत उदाहरण एक हाल ही की बिलकुल ताजी घटना से मिलता है। 'नव भारत टाइम्स' बंबई के ता० १–७–५८ के अक मे "बालक ने हजारो को बेवकूफ बनाया"–शीर्षक से एक संवाद छपा है। उसका भाव यह है,–

बीजापुर मे कुष्ट-रोग से पीडित 'बालकृष्ण कुलकर्णी' नामक एक १६ वर्षीय बालक ने लगभग ६० हजार स्त्री पुरुषो को मूर्ख बनाया। 'रुक्मागद' की समाधि पर ता० १५–६–५८ को बालक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि 'उसके शरीर मे किसी दैवी-शक्ति का संचार हुआ है।' वह कूदता फांदता हुआ यह बता रहा था कि 'उसके हाथ मे जो क्रुद्ध सर्प है, वह रुक्मागद स्वामी का ही अवतार है।'

इस चमत्कार की कहानी बहुत फैली और दस दिन के भीतर हजारो रुपयो का चढावा आगया। आखिर ता० २५–६–५८ को भडा फोड हो गया। बात यह हुई कि वह साँप, एक सपेरे से छ रुपये मे लिया था। सपेरे को उसके ६) नही मिले, जिससे उसने हजारो लोगो के बीच इस पाखड को खुला कर दिया। उस समय अन्ध-विश्वासियो की आँखे खुली और कुलकर्णी को गालियाँ देते हुए चले गये। पुलिस ने कुलकर्णी को गिरफ्तार कर लिया है। पुलिस का अनुमान है कि यह बालक किसी पक्के गुरु का चेला है।"

हमारा अनुमान है कि उल्लु बनने वाले, उन साठ हजार मे, सौ पचास जैनी भी होगे, जो आँखे मूंद कर, हर किसी

पाखण्ड का शिकार बन जाते हैं। जिसके हृदय मे जैनधर्म के प्रति पक्की श्रद्धा हो और समझदारी हो, वह ऐसे लौकिक-मिथ्यात्व मे पड़कर मूर्ख नही बनता।

१७ लोकोत्तर मिथ्यात्व

लौकिक-देव गुरु और धर्म को मानना पूजना, लौकिक मिथ्यात्व है। यह लौकिक देवादि से सम्बन्ध रखता है, तब लोकोत्तर मिथ्यात्व, लोकोत्तर देवादि से सबधित है। लोकोत्तर देवादि को लौकिक मानना और लौकिक अभिप्राय से उनकी आराधना करना, लोकोत्तर-मिथ्यात्व है। इसके भी देवगत, गुरुगत और धर्मगत, ऐसे तीन भेद इस प्रकार है।

लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व

जिनमे राग, द्वेष, मिथ्यात्व, अज्ञानादि दोष हो, उन्हे मुक्ति-दाता, तरण-तारण और लोकोत्तर देव मानना, और निर्दोष परम-वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, अरिहत भगवान् को लौकिक देव मानना तथा लौकिक इच्छापूर्ति के लिए उनकी आराधना करना—लोकोत्तर देव विषयक मिथ्यात्व है।

देव साक्षी से त्याग प्रत्याख्यान और विरति करना तो उचित है, किंतु वीतराग मुक्तिदाता से धन, स्त्री, पुत्र तथा प्रतिष्ठादि संसार-परिभ्रमण कराने वाली इच्छा करना, उनसे मांग करना और इसके लिए स्मरण जाप तथा आराधना करना, अनुचित है। जिनेश्वर की साक्षी से लग्न करना व प्रभु-कृपा

से वैवाहिक जीवन सुखमय एव पुत्रादि संतति लाभ-युक्त मानना अयोग्य है। जिनेश्वर की साक्षी से मैथुन त्याग अथवा मर्यादा तो की जा सकती है, किंतु मैथुनी संयोग नही मिलाया जाता। परन्तु जिनेश्वर की स्थापना करके, उसके समुख गर्भाधानादि संस्कार करवाते हैं, यह लोकोत्तर-मिथ्यात्व है।

सर्व त्यागी, परम वीतरागी मोक्ष-प्राप्त जिनेश्वर भगवतो की आराधना के नाम पर, त्याज्य वस्तुओ का व्यवहार करना, उनके प्रतीक को सासारिक वेशभूषा से विभूषित कर, लौकिक जैसा बना देना, कही जाने वाली धार्मिक क्रियाओ मे उनका आव्हान, विसर्जनादि करना और उनके नाम पर अनेक प्रकार का बढचढ कर आरंभ करना तथा उनसे शत्रु, रोग, और दरिद्रता मिटाने की प्रार्थना, स्तुति, स्तोत्र और मन्त्रादि से जाप करना, सब लोकोत्तर देवविषयक मिथ्यात्व है।

यद्यपि स्वार्थ-बुद्धि से जिनेश्वर भगवंतो तथा नमस्कार मन्त्रादि की आराधना करना—लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व है, तथापि यह मिथ्यात्व उस दशा मे स्वीकार किया गया है जब कि साधक अपने सासारिक अभाव की पूर्ति के लिए दैविक सहायता चाहता हो, और उसके लिए वह लौकिक मिथ्यात्व मे पडकर जैनत्व से ही दूर चला जाने वाला हो, तो ऐसे साधको की इच्छा-पूर्ति के लिए आचार्यों ने लोकोत्तर-मिथ्यात्व सेवन करने की विधि भी बताई है, जैसे—

"किसी को स्तंभित करने के लिए पीले वर्ण की माला से नमस्कार मन्त्र का जाप करे, वशीकरण के लिए लाल-वर्ण

की, भयभीत करने के लिए काले रंग की, तथा कर्म-निर्जरा के लिए श्वेत वर्ण की माला से जाप करना चाहिए।"

(योगशास्त्र ८-३१)

"पौद्गलिक सुख की प्राप्ति के लिए ॐकार युक्त नमस्कार मन्त्र का जाप करना चाहिए।" (८-७१)

अनेक प्रकार के मन्त्र, स्तुति-स्तोत्रादि का निर्माण और प्रचार इसी उद्देश्य से हुआ कि जिससे साधारण जनता, जैनत्व से दूर नही चली जाय। उसकी इच्छा पूर्ति के साधन, जैनधर्म मे ही उपलब्ध कर दिये गये। इस मिथ्यात्व का सेवन करते हुए भी यदि जनता, जैन-धर्म के सम्पर्क मे रहेगी, तो कभी न कभी सच्चा सम्यग्दृष्टि बनने का प्रसग भी आ सकेगा। जैनत्व से सर्वथा विमुख होने की अपेक्षा यह अच्छा भी है, किंतु स्थिति विगडती गई, मिथ्यात्व वढता गया और सम्यक्त्व लुप्त होता गया। अन्धानुकरण से यह लोकोत्तर मिथ्यात्व, आभिग्रहिक तथा कही कही आभिनिवेशिक मिथ्यात्व का कारण बन गया। कथित धार्मिक प्रसगो पर लोकोत्तर देवो के साथ लौकिक देव भी, लौकिक सामग्री तथा लौकिक विधि से पूजे जाने लगे। इस प्रकार लोकोत्तर देव विषयक मिथ्यात्व का प्रसार बहुत हुआ और हो रहा है।

अपनी ही बुद्धि और प्रत्यक्ष को महत्व देने वाला 'सुधारक' नामधारी वर्ग, तीर्थंकर भगवतो के अतिशय, उनकी सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता और वीतरागता से भी इनकार कर रहा है। कोई उन्हे स्त्रियो और अछूतो का उद्धार करने के लिए विद्रोह करने

वाला बता रहा है, तो कोई जनसेवक तथा कोई कृषि, युद्ध आदि की हिंसा मे भी अहिंसा पालन करने के सिद्धात वाले बता रहा है। यो अनेक प्रकार से लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व का सेवन हो रहा है।

लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व

जो आरभी परिग्रही हैं, जिनकी प्रवृत्तियाँ सावद्य हैं, जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति एवं निर्ग्रंथाचार के पालक नही है, उन लोकिक-गुरुओ तथा लौकिक सस्था के नेताओ को धर्म-गुरु मानना, इसी प्रकार लोकोत्तर वेशधारी शिथिलाचारियो, पासत्थो, कुशीलियो, स्वच्छन्दाचारियो, निर्ग्रंथ-धर्म की मर्यादा के बाहर जाकर सावद्य प्रचार करने वालो, विपरीत आचारवालो एवं दुराचारियो को लोकोत्तर-गुरु मानकर वन्दनादि करना भी लोकोत्तर गुरु विषयक मिथ्यात्व है।

जो श्रमणोपासक कहाकर, निर्ग्रंथ साधुओ को मोक्ष-मार्ग से हटाकर, संसार-मार्ग की ओर खिचते है, उनसे सावद्य प्रचार करवाते है, लोक-नेताओ के सम्पर्क मे लाकर उन्हे भी लौकिक बनाने की चेष्ठा करते है उन्हे जन-सेवक कहते हैं, उन्हे दिये जाने वाले आहारादि का भौतिक बदला चाहते हैं और उनके द्वारा अपनी प्रशसा, संमानादि की इच्छा करते हैं, यह सब लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व है।

लोकोत्तर धर्मगत मिथ्यात्व

जैनधर्म, वास्तव मे मुक्ति का मार्ग है। परम-निवृत्ति

और निर्वाण का मार्ग है, किंतु इसका पालन सासारिक सुखो के लिए करना, संवर और निर्जरा की करणी, बंध के उद्देश्य से करना अर्थात् स्मरण और तप, रोग-निवारण, द्रव्य-प्राप्ति, पुत्र-लाभ आदि कामना से करना, पाले हुए संयम तप अथवा श्रावकपन के उत्तम फल को, निदान करके गँवाना, यह सब धर्मगत-लोकोत्तर-मिथ्यात्व है।

निवृत्ति प्रधान धर्म को प्रवृत्ति-प्रधान कहना, मोक्ष-मार्गी को ससार-मार्गी बतलाना, लोकोत्तर धर्म को लौकिक मतो की समानता मे रखना, अनेकातवाद का दुरुपयोग करके एकातवादी मतो से जैनधर्म का समन्वय करना, जैनधर्म का महत्व घटाना, तथा लौकिक धर्मों के साथ गठबन्धन करके समस्त धर्मों का सम्मिलन जोडना, यह सब अमृत और विष का मेल मिलाना है।

जिस प्रकार अच्छी वस्तु मे बुरी वस्तु और असली वस्तु मे नकली का भेलसंभेल करना, श्रावक के तीसरे व्रत का अतिचार है, उसी प्रकार अनेकातवाद मे एकातवाद, मुक्तिवाद मे बन्धवाद और मोक्ष-मार्ग मे ससार मार्ग का मिलाना, मिथ्यात्व है। निरवद्य मे सावद्य का संमिश्रण करना और सर्वधर्म-समभावी बनना भी लोकोत्तर-धर्मगत मिथ्यात्व है।

लोकोत्तर-मिथ्यात्व मे आजकल एक विषय बहुत बडा प्रभावशाली हो गया है। इसके चक्कर से जैनधर्म को विश्व-व्यापक—विश्वधर्म बनाने की, असंभव एवं अशक्य, किंतु मोहक भावना ने, लोकोत्तर-मिथ्यात्व सेवन करने के लिए बहुतो को

आकर्षित किया। सारा विश्व, जैनधर्म का उपासक बन जाय, यह तो असभव है। इसके लिए विश्व के अनुकूल बनने–लौकिक मिथ्यात्व का सेवन करने की आवश्यकता हुई। क्योकि लोक के अनुकूल बने बिना, लोक व्यापी होना आकाश-कुसुमवत् कोरी कल्पना मात्र ही रहती है। जिस प्रकार सोना, हीरा, मोती आदि मूल्यवान वस्तुएँ, सर्वसाधारण के हाथो मे पहुचने योग्य तभी बनती है, जब कि वे अपना स्थान, अपना मूल्य और अपना महत्व भुलाकर, पीतल या नकली सोना, नकली हीरा और कल्चर मोती बनजाय। यदि सोना अपने आप मे विशुद्ध रहे, अपना महत्त्व नही छोडे, मूल्य नही घटावे, तो वह विश्व व्यापक (अरबो मनुष्यो के लिए सुलभ) नही हो सकता। आजकल मनिहारो के यहाँ दो दो और चार चार पैसे मे हीरे की अंगूठी मिलती है। चार छ आने मे सोने के फेसी–मोहक हार मिलते हैं। इसी प्रकार सच्चे मोतियो को भी शरमावे वैसे मोतियो की मालाएँ कुछ पैसो मे ही मिलती है, और इनसे सर्वसाधारण जनता, स्वर्ण, रत्न तथा मुक्ता मण्डित आभूषणो का आनन्द लेती हुई अपनी इच्छा पूर्ण करती है। इसी प्रकार जैनधर्म भी अपना असली और वास्तविक रूप छोडकर, अपना निर्वाण मार्ग छोड़कर और असली से नकली बनकर ही विश्व-व्यापक हो सकता है। जहा लौकिक और लोकोत्तर का कोई भेद ही नही हो।

जैनधर्म को विश्व-व्यापक बनाने के लिए, वैसे लोगों को अनेकान्त का बहुत बड़ा सहारा मिल गया है। वे कहते हैं–

"धर्म मानव के बीच का भेद मिटाने मे है, ऊँच नीच के वर्ग नष्ट कर साम्यभाव धारण करने मे है। 'हमारा धर्म ऊँचा और दूसरो का धर्म नीचा,' इस प्रकार का भेद ही झगडे का मूल है'-यो कहते हुए और भगवान् महावीर का नाम आगे करते हुए कहते हैं कि-'जब धर्म मे ऊँच नीच की भावना व्याप्त हो गई थी, अधिनायकवाद जोर पकड चुका था, तब भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद का उपदेश करके-सभी धर्मों का समन्वय करके, सर्वधर्म-समभाव का पाठ पढाया। जैन-धर्म है ही क्या ? एकान्तवाद का विरोधी और अनेकान्तवाद का प्रचारक। मिथ्यादर्शनो के समूह का नाम ही तो जैनधर्म है।"

इस प्रकार अनेक रीति से लोकोत्तर-मिथ्यात्व का सेवन करके, लौकिक-मिथ्यात्व तथा अधर्म को धर्म मानने आदि अनेक प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन कर, मिथ्यात्वी बनते है।

१८ कुप्रावचनिक मिथ्यात्व

कुप्रवचन=खोटे प्रवचन=मिथ्या सिद्धात को अपनाना। निर्ग्रंथ-प्रवचन के अतिरिक्त सग्रंथ वचनो और लौकिक मान्यता पर विश्वास करना, उनका प्रचार करना, उनकी प्रशंसा करना, कुप्रवचन के उत्पादक, प्रचारक ऐसे कुप्रावचनिक को, सद्प्रावचनिक-सद्प्रचारक मानना, यह सब इस मिथ्यात्व मे आता है। आचाराग से गीता का समन्वय करने वाले, गीता, बौद्ध-पीटक, गाधी और विनोबा साहित्य तथा ऐसे अन्य शास्त्रो-ग्रथो-पुस्तको का श्रद्धापूर्वक पठन करना, कराना तथा वैसे मन्तव्यो का

प्रचार करना, यह सब कुप्रावचनिक-मिथ्यात्व है । श्री उत्तराध्ययन २३ मे लिखा है कि—

" कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्ग पट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे " ॥६३॥

अर्थात्—जिनेश्वर भगवतो द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्ग ही उत्तम है । इसके सिवाय जितने भी वचन हैं, वे सब कुप्रावचन होकर उन्मार्ग पर ले जाने वाले हैं ।

जैनियो को जिन-प्रवचन पर पूर्णरूप से श्रद्धालु बनकर, कुप्रवचनरूप मिथ्यात्व से बचना चाहिए ।

१६ न्यून-करण मिथ्यात्व

निर्ग्रंथ-प्रवचन, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, परमवीतरागी जिनेश्वर भगवान् द्वारा उपदिष्ट है । अनन्त-ज्ञानियो के सिद्धात मे कम करना, आगम-पाठो मे से मात्रा, अनुस्वार, अक्षर, शब्द, वाक्य, गाथा, सूत्र आदि निकाल देना—कम कर देना, सिद्धात की प्ररूपणा मे, अपने प्रतिकूल पड़ने वाले अश को छोड देना, शरीर-व्यापी आत्मा को अंगुष्ठ-प्रमाण मानना आदि इस भेद मे है । तात्पर्य यह कि जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित सिद्धात से कुछ भी कम मानना, इसी प्रकार प्ररूपणा तथा फरसना मे कमी करना, न्यूनकरण-मिथ्यात्व है ।

अपनी कमजोरी से कम पले, तो इसे अपना दोष मानना, लेकिन वस्तु स्वरूप की मान्यता तथा प्ररूपणा मे कमी नही

करना, यह सम्यक्त्व शुद्धि के लिए आवश्यक है।

२० अधिक-करण मिथ्यात्व

जिस प्रकार न्यून-करण मिथ्यात्व है, उसी प्रकार अधिक-करण भी मिथ्यात्व है। आगम पाठो मे मात्रा, अनुस्वार, अक्षर, शब्द, वाक्य, गाथा, सूत्र आदि बढा देना, सैद्धातिक मर्यादा का अतिक्रमण करना, वस्त्र के सद्भाव मे, तथा स्त्री-पर्याय मे साधुता तथा मुक्ति का सर्वथा अभाव मानना, इत्यादि प्रकार से निर्ग्रंथ-प्रवचन की मर्यादा से अधिक प्ररूपणादि करना, अधिक-करण मिथ्यात्व है।

२१ विपरीत मिथ्यात्व

निर्ग्रंथ-प्रवचन से विपरीत प्रचार करना, सावद्य एव संसारलक्षी प्रवृत्ति करना, या उसका प्रचार करना, तथा सावद्य-प्रवृत्ति मे धर्म मानना, विपरीत मिथ्यात्व है। पुण्य पाप और आश्रव, शुभाशुभ बन्ध रूप है, इन्हे सवर निर्जरा रूप मानना, तथा बन्ध के कारण को मोक्ष का कारण बताना, विपरीत मिथ्यात्व है। एकात निश्चय का अवलम्बन कर व्यवहार का लोप करना, अथवा व्यवहार को ही पकड कर, निश्चय का अपलाप करना, अनुकम्पा मे और अनुकम्पादान मे एकात पाप की स्थापना कर, पुण्य का निषेध करना, अरिहंत भगवान् मोक्ष-मार्ग के प्रवर्त्तक होते हैं, उन्हे संसार मार्ग के नेता कहना, इत्यादि जितनी भी विपरीतता है, वह सभी मिथ्यात्व रूप है। यह

विपरीतता चाहे देश रूप मे हो या सर्वरूप मे, थोडी हो या बहुत, सम्यक्त्व के लिये बाधक होती है। वैसे जितने भी मिथ्यात्व हैं, वे सभी विपरीत–प्रतिकूल ही है। धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म इत्यादि सभी प्रकार के मिथ्यात्व, विपरीतता से ही निष्पन्न होते हैं। इसलिए प्रतिकूलता मात्र विपरीत-मिथ्यात्व है। इसमे सभी प्रकार के मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है। जमाली, थोडी-सी विपरीतता के कारण मिथ्यात्वी हुआ और 'निन्हव' कहलाया। किंचित् विपरीतता भी महामिथ्यात्व का कारण बनती है। जिसने जिन-प्रवचन से थोडी भी विपरीतता की, तत्त्वो मे मनमाना फेर कर दिया, उसने जिनेश्वर से असहमति बता कर, सुदेव से ही इन्कार किया। जमाली की ऊपर से किंचित् दिखाई देने वाली विपरीतता, मूल मे और परिणाम मे मिथ्यात्व का कारण बन गई। इसलिए सम्यक्त्व को विशुद्ध रखने के लिए निर्ग्रंथ-प्रवचन के पूर्णरूप से अनुकूल रहना चाहिए।

२२ अक्रिया मिथ्यात्व

क्रिया का निषेध करना, संसारी आत्मा को अक्रिय मानना, तथा आत्म-शुद्धि की क्रिया को नही मानना–'अक्रिया' नामक मिथ्यात्व है।

अक्रियावादी मानता है कि "आत्मा अक्रिय–हलन चलन स्पन्दनादि क्रिया से रहित और स्थिर है। वह अपने ज्ञान-भाव–उपयोग मे ही रहता है। क्रिया करना आत्मा का धर्म नही है। क्रिया, जड मे होती है और जड़-कर्म को उत्पन्न करती

है। इसलिए क्रिया की कुछ भी आवश्यकता नही है। आत्मा, ज्ञाता एवं दृष्टा ही है, वह कर्त्ता नही है। यदि वह कर्त्ता है, तो अपने ज्ञान-भाव का ही कर्त्ता है, शारीरिक जड-क्रिया का नही।" इस प्रकार आत्मा को एकान्त रूप से अक्रिय मान करके, वे आत्म-विशुद्धि करने वाली उत्तम क्रिया का निषेध करते हैं।

कोई एकान्तवादी, जैन कहाते हुए भी आत्मा के लिए हितकारी ऐसी पुण्य, सवर, निर्जरा की आत्मलक्षी क्रिया का निषेध करते है, और कहते है कि 'आत्मा-जडक्रिया का कर्त्ता नही है। आत्मा को कर्त्ता मानना महान् भूल है=भयंकर पाप है, हजारो गायो या मनुष्यो को मारने के पाप से भी बढकर पाप है।' इस प्रकार क्रिया का खण्डन करने वाले, इस मिथ्यात्व के अधिकारी हैं। ये आत्मवादी कहलाते हुए भी इनका एकान्त अक्रियावाद, इन्हे मिथ्यात्व मे धकेल रहा है। जिस प्रकार ज्ञानवादी, मात्र ज्ञान का ही आग्रह करके क्रिया का निषेध करते है, उसी प्रकार ये एकान्त अक्रियावादी भी हैं। ये स्वतः खाने, पीने, सोने, चलने, बोलने आदि क्रिया करते हैं, किंतु मुंह से कहते यही है कि-'ये क्रियाएँ जड करता है, चैतन्य नही करता। जड से सबंधित चैतन्य और उसके कारण आत्मा मे भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, सुख, दु ख और अनुकूल प्रतिकूल का संवेदन करते हुए भी जो क्रिया का निषेध करते है, वे अपनी माता को वंध्या कहने के समान भूल करते हैं, क्योकि यह तो प्रत्यक्ष है कि आत्म-शून्य निर्जीव शरीर ही इन क्रियाओ को नही

करता। शरीर से सम्बन्धित आत्मा, वैभाविक दशा मे रहा हुआ है। उस पर उदय-भाव का असर रहता है। इस उदय-भाव के अनुसार वह विभिन्न सयोगो और परिणामो का संवेदन करता हुआ, परिणाम के अनुसार कर्त्ता बनता है, इसलिए वह सक्रिय है। स्थानागसूत्र १० तथा प्रज्ञापना १३ मे दस प्रकार का 'जीव परिणाम' बताया है। यथा–

१ गति परिणाम–गमन करना, एक गति से दूसरी गति मे जाना।

२ इद्रिय परिणाम–श्रोत आदि इंद्रिय का धारण करना।

३ कषाय परिणाम–क्रोधादि कषाय युक्त रहना।

४ लेश्या परिणाम–कृष्णादि लेश्या सहित।

५ योग परिणाम–मन वचन और काय योग युक्त।

६ उपयोग परिणाम–ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग युक्त।

७ ज्ञान परिणाम–सम्यग्ज्ञान या अज्ञान युक्त होना।

८ दर्शन परिणाम–सम्यग्, मिथ्या या मिश्र-दर्शन युक्त होना।

९ चारित्र परिणाम–देश चारित्र या सर्व चारित्र युक्त अथवा सामायिकादि चारित्र युक्त होना।

१० वेद परिणाम–पुरुषादि वेद युक्त होना।

संसारी जीवो के ये दस परिणाम है। जो मुक्ति प्राप्त कर असंसारी हो चुके हैं, उनके–१ उपयोग, २ ज्ञान और ३ दर्शन परिणाम होता है, गति, इन्द्रिय आदि ७ परिणाम उनमे नही

होते। आत्मा की निज एव स्वाभाविक दशा तो इसी प्रकार की है, किन्तु पर-परिणति के कारण जो विभाव दशा, ससारी जीवो मे न्यूनाधिक रूप से है, वह भी एकान्त अजीव परिणाम तो नही है। उसमे जीव की विभाद-परिणति मूल कारण रूप है ही। संसारी जीवो के साथ जो शरीरादि का सयोग सबंध है, वह एकात अजीव परिणति नही है। भगवती ८-१ मे 'प्रयोग-परिणत' पुद्गल का निरूपण है। वह जीव के 'प्रयोग से शरीरादि रूप मे परिणत हुए हैं। यह भी सिद्धात है कि 'जीव को पुद्गल का सबध होता है वह स्वाभाविक नही, किंतु प्रयोग से है' (भग० श० ६-३ तथा १-६) अतएव वैसे पुद्गल के परिणाम मे जीव का प्रयोग नही मानना भी भूल है, एव एकातवाद के कारण मिथ्या है।

अजीव के निम्न दस परिणाम उसके स्वतन्त्र हैं। जैसे-

१ बध परिणाम-मिलना, द्वयणुकादि रूप से सबंधित होना और बिछुडना।

२ गति परिणाम-पुद्गल का एक स्थान से दूसरे स्थान जाना।

३ संठाण परिणाम-आकृति धारण करना।

४ भेद परिणाम-टुकडे होना, स्कन्ध से देश आदि होना।

५ वर्ण परिणाम-काला आदि रंग युक्त होना।

६ गन्ध परिणाम-सुगन्धादि युक्त होना।

७ रस परिणाम-तिक्तादि रस वाला होना।

८ स्पर्श परिणाम-कर्कशादि स्पर्श होना।

९ अगुरुलघु परिणाम—वजन मे न अधिक भारी और न अधिक हलका। इस भेद मे गुरुलघु परिणाम का भी समावेश होता है।

१० शब्द परिणाम—ध्वनि के रूप मे परिणत होना।

यह अजीव परिणाम, केवल पुद्गल द्रव्य का ही है, धर्मास्तिकायादि अरूपी अजीव का नही है, फिर भी ये सभी ससारी जीव मे पाये जाते है, क्योकि अजीव से सम्बन्धित जीव भी गति करता है, कर्म से बन्धता है, आकृति युक्त है, शरीर व कर्मों का भेद भी होता है, वर्णगन्धादि सभी परिणामो से युक्त है। इसका कारण यह नही कि अजीव, अपने आप, जीव से सबंधित हो गया। इसका कारण यह कि जीव—ससारी जीव ने यह सबंध स्वीकार किया है। यदि जीव, अजीव को नही अपनाता, तो वह व्यवहारी—ससारी रहता ही नही, अपितु सिद्ध हो जाता। श्रीभगवती २५, २ मे लिखा है कि—"अजीव-द्रव्य, जीव द्रव्य के परिभोग मे आता है, लेकिन जीव, अजीव के परिभोग में नही आता।" इसका मतलब यही है कि अजीव अपनेआप (—बिना जीव की प्रेरणा अथवा प्रयोग के) जीव के नही लग जाता। वह जीव के क्रिया करने पर ही, जीव से संबंधित हुआ, अर्थात् जीव के प्रयोग (क्रिया) से जीव का अजीव के साथ सम्बन्ध हुआ। जब क्रिया के कारण जीव अजीव का सम्बन्ध और चतुर्गति भ्रमण सिद्ध है, तब इस सम्बन्ध का विच्छेद कराने वाली सवरादि धर्म की क्रिया भी सिद्ध है। फिर अक्रियावाद—क्रिया का निषेध क्यो किया जाता है?

एकात निश्चयवाद भी मिथ्या है और एकात व्यवहार-वाद भी मिथ्या है। परम विशुद्ध सिद्धात्मा ही निश्चय स्वरूप है और वही अक्रिय–निष्कम्प एवं स्थिर है। उस अवस्था के पूर्व शैले-शीकरण के अतिरिक्त आत्मा कम्पनशील रहता है। यह सकम्प अवस्था, क्रिया से सर्वथा वंचित नही है। जब तक शरीर संबध है, तब तक क्रिया होती है, इसलिये संसारी आत्मा को अक्रिय मानना मिथ्या है। निश्चय का सिद्धात, निश्चय दशा सम्पन्न सिद्धात्मा पर ही पूर्ण रूप से घटित होता है, संसार व्यवहार (शरीर इन्द्रिय आदि) युक्त जीव पर पूर्ण घटित नही होता। संसारी जीवो के लिये अक्रियावाद का सिद्धांत अहितकर होता है। इससे वे आत्म-शुद्धि जन्य क्रिया से वंचित रह जाते हैं और कर्म-बन्धन ही बढ़ाते रहते हैं। व्यवहार स्थित आत्मा के लिये निश्चय के ध्येय सहित व्यवहार धर्म ही उपकारी है। इसका निषेध करना मिथ्यात्व है।

अजैन विचारधारा मे अक्रियावादी अनेक मत हैं। उनमे अद्वैतवादी भी है। वे विश्वभर मे केवल एक ही आत्मा मानते है। उनका कहना है कि—"जिस प्रकार पानी से भरे हुए हजारो लाखो घड़ो मे एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है और वह सब मे भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरो मे आत्मा भी केवल एक ही है। पृथ्वी, जल, तेज आदि महाभूत तथा सारा संसार एक आत्मा के ही विभिन्न रूप है और यह सारा विस्तार भी उसी का है। हमे जो भिन्नता और विविधता दिखाई देती है, वह भ्रम ही है। जिस प्रकार अन्धेरे

मे पडी हुई रस्सी, सर्प मालूम देती है, उसी प्रकार भ्रम से एक ही आत्मा भिन्न भिन्न भौतिक पदार्थों के रूप मे भासित होती है। वास्तव मे यह भ्रम ही ससार है और भ्रम दूर होना ही मुक्ति है।"

इस प्रकार आत्माद्वैतवादी या ब्रह्माद्वैतवादी, अपने माने हुए भ्रम से मुक्त होना ही मोक्ष मानते हैं। उनके मत मे क्रिया–सदनुष्ठान का कोई प्रयोजन नही है। जब वे भिन्न आत्मा और उनके कर्म ही नही मानते, तो क्रिया कब मानेगे ? इस प्रकार वे स्वत अनेक प्रकार की क्रिया करते हुए भी आत्मा को अक्रिय मानते हैं।

जैनदर्शन का उपरोक्त मत से, मूल मे ही भेद है, क्योकि जैनसिद्धात विश्व मे अनन्त आत्माओ का अस्तित्व स्वीकार करता है। उन सभी आत्माओ का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। परिणति सब की भिन्न-भिन्न है। यदि सभी शरीरो मे एक ही आत्मा होती, तो उनकी परिणति भी एक ही प्रकार की होती, सुखी, दुखी, धर्मात्मा, पापी, रोगी, नीरोग, छोटा, बडा, सम्पन्न, विपन्न, मनुष्य, पशु, पक्षी, त्रस, स्थावर, देव, नारक आदि भेद क्यो रहते ? यदि विश्व मे मात्र एक ही आत्मा है और सारे संसार मे सर्वत्र उसीका निवास है, तो सब की परिणति, अनुभव, कार्य और फल एक समान ही होते। एक सुखी तो सब सुखी और एक दुखी तो सब दुखी, एक भूखा तो सभी भूखे और एक प्यासा तो सभी प्यासे। गति, स्थिति, लेश्या, अध्यवसाय आदि की भिन्नता होनी ही नही चाहिए थी। एक मरता

एकात निश्चयवाद भी मिथ्या है और एकात व्यवहार-वाद भी मिथ्या है। परम विशुद्ध सिद्धात्मा ही निश्चय स्वरूप है और वही अक्रिय—निष्कम्प एवं स्थिर है। उस अवस्था के पूर्व शैलेशीकरण के अतिरिक्त आत्मा कम्पनशील रहता है। यह सकम्प अवस्था, क्रिया से सर्वथा वंचित नही है। जब तक शरीर संबध है, तब तक क्रिया होती है, इसलिये ससारी आत्मा को अक्रिय मानना मिथ्या है। निश्चय का सिद्धात, निश्चय दशा सम्पन्न सिद्धात्मा पर ही पूर्ण रूप से घटित होता है, संसार व्यवहार (शरीर इन्द्रिय आदि) युक्त जीव पर पूर्ण घटित नही होता। संसारी जीवो के लिये अक्रियावाद का सिद्धात अहितकर होता है। इससे वे आत्म-शुद्धि जन्य क्रिया से वंचित रह जाते हैं और कर्म-बन्धन ही बढ़ाते रहते हैं। व्यवहार स्थित आत्मा के लिये निश्चय के ध्येय सहित व्यवहार धर्म ही उपकारी है। इसका निषेध करना मिथ्यात्व है।

अजैन विचारधारा मे अक्रियावादी अनेक मत हैं। उनमे अद्वैतवादी भी है। वे विश्वभर मे केवल एक ही आत्मा मानते है। उनका कहना है कि—"जिस प्रकार पानी से भरे हुए हजारो लाखो घडो मे एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है और वह सब मे भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरो मे आत्मा भी केवल एक ही है। पृथ्वी, जल, तेज आदि महाभूत तथा सारा संसार एक आत्मा के ही विभिन्न रूप है और यह सारा विस्तार भी उसी का है। हमे जो भिन्नता और विविधता दिखाई देती है, वह भ्रम ही है। जिस प्रकार अन्धेरे

मे पडी हुई रस्सी, सर्प मालूम देती है, उसी प्रकार भ्रम से एक ही आत्मा भिन्न भिन्न भौतिक पदार्थों के रूप मे भासित होती है। वास्तव मे यह भ्रम ही ससार है और भ्रम दूर होना ही मुक्ति है।"

इस प्रकार आत्माद्वैतवादी या ब्रह्माद्वैतवादी, अपने माने हुए भ्रम से मुक्त होना ही मोक्ष मानते हैं। उनके मत मे क्रिया–सदनुष्ठान का कोई प्रयोजन नही है। जब वे भिन्न आत्मा और उनके कर्म ही नही मानते, तो क्रिया कब मानेंगे ? इस प्रकार वे स्वत: अनेक प्रकार की क्रिया करते हुए भी आत्मा को अक्रिय मानते है।

जैनदर्शन का उपरोक्त मत से, मूल मे ही भेद है, क्योकि जैनसिद्धात विश्व मे अनन्त आत्माओ का अस्तित्व स्वीकार करता है। उन सभी आत्माओ का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। परिणति सब की भिन्न-भिन्न है। यदि सभी शरीरो मे एक ही आत्मा होती, तो उनकी परिणति भी एक ही प्रकार की होती, सुखी, दुखी, धर्मात्मा, पापी, रोगी, नीरोग, छोटा, बडा, सम्पन्न, विपन्न, मनुष्य, पशु, पक्षी, त्रस, स्थावर, देव, नारक आदि भेद क्यो रहते ? यदि विश्व मे मात्र एक ही आत्मा है और सारे संसार मे सर्वत्र उसीका निवास है, तो सब की परिणति, अनुभव, कार्य और फल एक समान ही होते। एक सुखी तो सब सुखी और एक दुखी तो सब दुखी, एक भूखा तो सभी भूखे और एक प्यासा तो सभी प्यासे। गति, स्थिति, लेश्या, अध्यवसाय आदि की भिन्नता होनी ही नही चाहिए थी। एक मरता

है, दूसरा जन्मता है, यह भेद नही रहना था। वास्तव मे एकात्मवाद का सिद्धात-अद्वैतवाद के रूप मे सही नही है। अपनी आत्मा के समान दूसरो की आत्मा को मानकर किसी को सताना नही, अथवा आत्म-गुणो की अपेक्षा सब मे समानता मानना-एक बात है और एक आत्मा के सिवाय अन्य आत्मा का अस्तित्व ही नही मानना-दूसरी बात है और यह सत्य नही है।

सभी जीव अपने पूर्व-कृत शुभाशुभ कर्म के अनुसार फल पाते हैं। संसारी जीव, कर्म का कर्त्ता और भोक्ता भी है और कर्म नष्ट करने के उपाय भी है। कर्म नष्ट करने के उपाय-सवर, निर्जरा को नही मानना-अक्रिया-मिथ्यात्व है।

आत्माद्वैतवादी की तरह शब्दाद्वैतवादी आदि मत भी अक्रियावाद के पोषक है।

कोई अक्रियावादी यह भी कहते हैं-क्रिया की आवश्यकता ही क्या है, केवल चित्त की पवित्रता होनी चाहिये। इस प्रकार एकान्तवाद को ही पकड कर क्रिया का निषेध करने वाले भी इस मिथ्यात्व के पात्र हैं।

कोई अक्रियावादी यह भी मान्यता रखते हैं कि-'समस्त पदार्थ अस्थिर हैं, आत्मा भी अस्थिर है, इसलिये अस्थिर में क्रिया नही होती।' कोई कहते हैं कि-'आत्मा निराकार और सर्व व्यापक है। निराकार वस्तु क्रियाशील नही होती, जो क्रिया दिखाई देती है, वह माया है, वह निराकार आत्मा को स्पर्श नही कर सकती'-यो अनेक प्रकार की विचारधाराएँ अपनी

पनी अपेक्षा से क्रिया का निषेध करती है।

भोग-प्रधान सिद्धातवादी लोगो का मानना है कि संसार मे सुख से ही रहना चाहिये। सुख ही से सुख की प्राप्ति होती है। जो तपस्यादि दु ख से आत्मा को दुखी करते हैं, उन्हे सुख की प्राप्ति कदापि नही हो सकती। जिस प्रकार बबूल के पेड से आम का फल नही मिलता, उसी प्रकार व्रत-नियम और तप कर के आत्मा को क्लेशित करने से (उस क्लेश मे से) सुख की उत्पत्ति नही हो सकती। इसलिये खूब खाना पीना और मौज करना चाहिये।

उपरोक्त कथन मिथ्या है। हम संसार मे भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि जो स्वच्छंद भोग के लिये व्यभिचार करते हैं, वे करते तो हैं—इच्छा पूर्ति=सुख के लिये, लेकिन संसार मे धिक्कार के पात्र और राज्य से दण्डित होते है। जो सुख के लिये धन प्राप्त करने मे चोरी या ठगी का आश्रय लेते हैं, वे भी अपराधी माने जाकर दण्ड के पात्र होते हैं। स्वाद-सुख मे लीन होकर अधिक खाने से अजीर्णादि रोग हो जाते हैं। एक एक इन्द्रिय के सुख मे गृद्ध हो जाने वाले जीव, अकाल-मृत्यु प्राप्त करते देखे जाते हैं, इससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि भौतिक सुख, सुख का नही किंतु दु ख का ही कारण होता है और सम्यग्दृष्टि युक्त इन्द्रिय दमनादि तप, आत्मिक सुख का कारण बनता है।

सौख्यवादियो के मतानुसार, व्रत नियम और तप करने वाले अपनी आत्मा को क्लेशित करके अधोगति के पात्र बनते

होगे और जो अधिक भोगी है, वे अधिक ऊँची गति को प्राप्त होते होगे। इनकी दृष्टि मे आत्मा कोई वस्तु ही नही है। यदि ये आत्मवादी होते और उन्हें आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता, तो भौतिक एवं नाशवान सुखो पर ही अपने सिद्धात को केन्द्रित नही करते। इस प्रकार सौख्यवादी भी अक्रिया मिथ्यात्व के स्वामी है। चार्वाक मत का समावेश इसमे होता है।

नियतिवादी भी क्रिया के उत्थापक है। उसका पूरा आधार नियति-भावीभाव (अथवा होनहार) पर है। उनका सिद्धात है कि-"ससार मे जो कुछ भी होता है, वह सब नियति से ही होता है, क्रिया-पुरुषार्थ से कुछ भी नही हो सकता।" स्वयं रोटी खा कर भूख की निवृत्ति और पानी पी कर प्यास की निवृत्ति करते हैं और सभी तरह की सासारिक क्रिया करते हुए और उसका फल पाते हुए भी वे क्रिया से इन्कार करते हैं। ये भी अक्रियावादी हैं। इसी प्रकार कालवादी, स्वभाववादी भी अपने अपने वाद को पकडकर-एकातवाद का आश्रय लेकर, क्रिया का निषेध करते हैं।

जैन कुल मे जन्मे हुए किंतु धार्मिक श्रद्धा से शून्य ऐसे कई लोग, धार्मिक अनुष्ठान करने वालो को "क्रिया-जड" कहकर उपहास करते हैं। यह भी उनका मिथ्यात्व है।

'अक्रिया मिथ्यात्व' मे अक्रियावादियो के ८४ भेदों का समावेश होता है। ये ८४ भेद इस प्रकार हैं।

जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वो के 'स्व' और 'पर' के भेद से १४ भेद हुए।

इनके काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा, इन छः से गुणन करने पर कुल ८४ भेद हुए। जैसे—'जीव स्वत. काल से नही है, परत. काल से नही है। इसी प्रकार यदृच्छा आदि छह भेद से स्वत परत गिनने पर १२ भेद हुए। इन बारह का सात तत्त्वो से गुणन करने पर ८४ भेद हुए।

सम्यग्दृष्टि जीवो को इस मिथ्यात्व से बचना चाहिए।

२३ अज्ञान मिथ्यात्व

संसार मे कोई ज्ञानवादी है, वे ज्ञान को ही एकात पकडकर क्रिया का निषेध करते हैं, तो कोई अज्ञानवादी भी हैं। इनका सिद्धात है कि 'जीवादि पदार्थों को जानने की आवश्यकता ही क्या है?' अतीन्द्रिय पदार्थो मे सत्य क्या और असत्य क्या है? परोक्ष वस्तु को जानने वाला संसार मे कोई भी नही है। यदि ये वस्तुएँ हैं भी, तो जो जानते हैं उन्ही को अधिक दोष लगता है, जो जानता ही नही है, तो उसको अनजानपने के कारण कम दोष लगता है। इसलिए जीवादि तत्त्वों को जानना व्यर्थ है।' इस प्रकार अज्ञानवादी का मत है।

कई जैनी कहे जाने वाले, ज्ञानाध्ययन को स्वीकार करते हुए भी अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय मे अश्रद्धालु बन गये हैं। उन्हे अवधि, मन.पर्यव और केवलज्ञान के विषय मे श्रद्धा ही नही है। केवलज्ञान के विरुद्ध तो जाहिर मे विचार भी व्यक्त हुए हैं। किसी तार्किक विद्वान का कहना है कि—'केवलज्ञानी अनन्त वस्तुओ को जानते है, किंतु उनके ज्ञान के बाहर

अनन्त वस्तुएँ ऐसी रह जाती हैं—जिन्हे वे नही जानते।' इस प्रकार ज्ञान के अस्तित्व एवं शक्ति से इन्कार करना, उसकी मनमानी व्याख्या करना, ये सब प्रकारान्तर से अज्ञान-मिथ्यात्व मे सम्मिलित हो जाते हैं।

कई भोले भाई, ज्ञान की अवहेलना करते हुए कहते हैं कि 'जीव के भेद, धर्मास्तिकाय, कर्म-प्रकृति, आदि पढकर मस्तिष्क खपाने की क्या आवश्यकता है ? इनसे न तो पेट भरता है (आजीविका चलती है) और न उद्धार ही होता है। देश को भी इससे कोई लाभ नही होता। इसलिए ऐसे ज्ञान की आवश्यकता नही है। आत्मा का हित सदाचार सयम आदि से होगा, जीवादि तत्त्वो को जानने से नही,"—इस प्रकार कह-कर अज्ञानवादी की पक्ति मे बैठते हैं। यह उनकी भूल है। इस प्रकार के विचार, धर्म के एक मूल अग को ही उखाडने वाले हैं। मोक्ष के चार अंगो मे ज्ञान-साधना—ज्ञानाचार, प्रथम अग है। इसकी आराधना यथा-शक्ति होनी चाहिये।

ज्ञान की अवहेलना करने वाले अज्ञानी के व्रतादि भी निर्जरा के कारण नही होते। संसार मे भी लौकिक ज्ञान वाले का आदर होता है, तो धर्म मे अज्ञान को स्थान कैसे मिल सकता है ? लौकिक ज्ञान तो संसार बढाने वाला और कर्म-बन्धनो से विशेष भारी करने वाला है। वह यदि हितकारी है, तो थोडे दिनो तक ही। यदि उदय की अनुकूलता हो, तो इस जीवन मे भौतिक अनुकूलता दे सकता है, किंतु बाद में वह जीव के लिए दु खदायक होता है। अतएव सम्यग्ज्ञान—

आत्मिक शाश्वत सुख देने वाले ज्ञान के अभ्यास की खास आवश्यकता है।

हमारे कितने ही भोले भाई लौकिक ज्ञान प्रचार को भी धर्म मानते है, किंतु यह उनकी भूल है। लौकिक ज्ञान, गृहस्थ जीवन के लिए (आरंभ-समारम्भमय सावद्य जीवन के लिए) उपयोगी हो सकता है, इसलिए उसे सासारिक दृष्टि से उपयोगी कह सकते हैं, धार्मिक दृष्टि से नही।

आत्मलक्षी सम्यग्ज्ञान ही धर्म से सबधित है, इसलिए लौकिक ज्ञान (–कुज्ञान–अज्ञान) को सम्यग्ज्ञान नही मान लेना चाहिए। अज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहना भी मिथ्यात्व है। यह अज्ञान–मिथ्यात्व जहा होता है, वहा न तो सम्यग्दर्शन होता है और न सम्यग्चारित्र ही होता है।

शास्त्रो मे अज्ञानवादी के ६७ भेद इस प्रकार बताये हैं।

नो तत्त्वो को सप्तभगी से गुणन करने पर ६३ भेद हुए, और उत्पत्ति के–१ सद २ असद् ३ सदसद् तथा ४ अवक्तव्य, ये चार मिलाने से कुल ६७ भेद हुए। जैसे कि 'कौन जानता है कि जीव का अस्तित्व है, और इसके जानने से लाभ ही क्या है ?' इस प्रकार अस्ति, नास्ति, आदि सात भंग सभी तत्त्वो पर उतारना चाहिए।

२४ अविनय मिथ्यात्व

देव, गुरु, गुणाधिक एवं धर्म का आदर सत्कार नहीं करना–अविनय-मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व, गुण और गुणीजनो के

प्रति अश्रद्धा होने पर उत्पन्न होती है। अश्रद्धा होने से ही अविनय होता है, इसलिए अविनय भी मिथ्यात्व है।

यदि अनजान मे गुरु आदि का आदर नही हो सके या शारीरिक अत्यन्त अशक्तता के कारण आदर नही दिया जा सके, तो वह मिथ्यात्व नही है। क्योकि वहा भावो मे विपरीतता नही है, तथा इसके लिए मन मे खेद भी है। किंतु जहां मन मे अविनय के भाव उत्पन्न होता है, वही यह मिथ्यात्व उपस्थित रहता है।

२५ आशातना मिथ्यात्व

अविनय की तरह आशातना भी मिथ्यात्व है। आशातना का अर्थ है–विपरीत होना, प्रतिकूल व्यवहार करना, विरोधी हो जाना, निन्दा करना। देवादि तथा तत्त्व का अपलाप करना, यह सब आशातना मिथ्यात्व है। आशातना बुरे भावो से ही होती है, अतएव यह मिथ्यात्व है। आशातना के दो प्रकार से तेतीस भेद शास्त्रो मे बताये हैं।

मिथ्याश्रुत का पठन-पाठन

सम्यक्त्व के लिए खतरे के स्थानो मे "पर पाखण्ड संस्तव" है। इसका उल्लेख पहले पृ० ८४ पर हो चुका है। इसमे अन्यमत के देव, गुरु, धर्म, शास्त्र, और मतावलम्बी का समावेश होता है। जिस प्रकार अन्य विचारधारा के उपाश्य का परिचय, सम्यक्त्व की रक्षा के लिए वर्जनीय है, उसी प्रकार मिथ्याश्रुत–परपाखण्ड-प्रचारक साहित्य भी वर्जनीय है। जिने-

श्वर के अतिरिक्त उपास्य का त्याग तो कर दिया, किंतु उनके विचारो-सिद्धातो के प्रतिपादक साहित्य का त्याग नही किया, तो मिथ्यात्व के प्रवेश का खतरा खुला ही है। जिस प्रकार पक्षी के छोटे बच्चो के लिए कौआ, बाज आदि घातक-प्राणी खतरनाक होते हैं, उसी प्रकार जिनका सम्यक्त्व क्षायिक नही है और विशिष्ट प्रकार का क्षायोपशमिक भी नही है, उनके लिए मिथ्याश्रुत का पठन-पाठन घातक सिद्ध होता है। हमारे कई अदूरदर्शी लोग कहा करते हैं-"अजैन साहित्य पढने मे हर्ज ही क्या है? जब हम सम्यग्दृष्टि हैं, तो अजैन, साहित्य हमारे लिए सम्यग्रूप से ही परिणत होगा, असम्यग् रूप से नही होगा-ऐसा नन्दी सूत्र मे लिखा है, इसलिए अजैन साहित्य को भी पढना ही चाहिए।" इस प्रकार कहने वाले गंभीर विचार नही करते, या यो कहना चाहिए कि जानते हुए भी अनजान बनकर, अपनी कुश्रद्धा से भद्रिक जीवो को भ्रम मे डालते हैं। वे यह नही सोचते कि सामान्य सम्यक्त्वी के लिए जिस प्रकार 'पर-पाखंड परिचय' खतरनाक होकर मिथ्यात्व मे ले जाने वाला होता है, इसलिए उसका त्याग सम्यक्त्वी के लिए हितकर बतलाया है, उसी प्रकार मिथ्याश्रुत का त्याग भी हितकर है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी के लिए स्त्री का परिचय और स्त्री-कथा वर्जनीय है, उसी प्रकार सम्यक्त्वी के लिए मिथ्याश्रुत वर्जनीय होता है। जो सम्यक्त्वी, दृढ श्रद्धालु होता है, जिसने जिनागमो का गंभीर ज्ञान प्राप्त किया है,-ऐसा व्यक्ति यदि मिथ्याश्रुत देखता है, तो उससे उसकी श्रद्धान विशेष रूप से दृढ होती

है। वह सोचता है कि 'कहा वीतराग वाणी और कहा सरागी जीवो के रागद्वेष वर्द्धक, स्वार्थ साधक, पौद्गलिक आकाक्षाओ से भरे हुए उद्गार ? कहा त्याग-मार्ग और कहा भोग-मार्ग, कहा-ससार-मार्ग और कहा मोक्ष-मार्ग, कहा अल्पज्ञो के सिद्धात और कहा सर्वज्ञ भगवत के परम सत्य एवम् परम उत्कृष्ट सिद्धात ?' इस प्रकार मिथ्या प्रवचनो को हेय मानता हुआ वह अपने सम्यक्त्व मे विशेष दृढ होता है। इस प्रकार वह मिथ्याश्रुत सम्यग्दृष्टियो के लिए सम्यग्रूप परिणमता है, किंतु असल मे है, तो वह मिथ्याश्रुत ही।

जिस प्रकार अमृत और विष, इन दोनो मे महान् अन्तर है, एक है तारक, तो दूसरा है मारक। उसी प्रकार सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत मे भी महान् अन्तर है। सम्यक्श्रुत उद्धारक है, तो मिथ्याश्रुत डुबाने वाला है। साधारणतया विष त्याज्य है, उसी प्रकार मिथ्यात्व भी त्याज्य है।

जिस प्रकार विशेष योग्यता वाला निष्णात वैद्य अथवा डाक्टर, विष के प्रकोप का शमन करने के लिए, विशेष प्रकार के विष का प्रयोग करके रोग-मुक्त कर देता है, उसी प्रकार सम्यग् परिणति वाला अधिकारी विद्वान, मिथ्यात्व रूपी रोग के—विशेष रूप से रोगी के रोग को छुडाने के लिए, मिथ्याश्रुत का प्रयोग कर, मिथ्यात्व मुक्त करता है अर्थात् अजैन को अजैन (उसी के मान्य) शास्त्र से समझाकर और फिर सम्यग्श्रुत की विशेषता बतलाकर सम्यग्दृष्टि करता है, यह उस अधिकारी विद्वान् की विशेषता है, किन्तु मिथ्याश्रुत की विशेषता नही है।

मिथ्याश्रुत तो अपनेआप मे मिथ्याश्रुत ही है। श्री नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र मे जिन आचारागादि श्रुत को सम्यग्श्रुत बतलाया है, वही सम्यग् श्रुत है, शेष सब मिथ्याश्रुत है। उसका पठन पाठन वर्जनीय ही है।

जिस प्रकार कोई विशेष प्रकार का रोगी, विष प्रयोग से नीरोग हो जाय, तो भी विष, अमृत नही माना जाता। वह विष ही रहेगा, उसी प्रकार मिथ्याश्रुत के विषय मे भी समझना चाहिए।

किसी शास्त्र मे लिखा हो कि–"न तो मास भक्षण में दोष है, न सुरापान मे और न मैथुन सेवन मे ही दोष है। पुत्रेच्छा से मैथुन करना चाहिए। विरोधियो का दमन करना चाहिए। धन-लाभ, पुत्र-लाभ और सुख प्राप्ति के लिए बलि-दान करना चाहिए। हे भगवन्! हमारे शत्रुओ को नष्ट कर दे, और हमे धन धान्यादि से परिपूर्ण बना दे।" अथवा जो देव कहे कि–"मैं दुष्टो का सहार करने के लिए और धर्म की रक्षा के लिए अवतार धारण करूगा।" इत्यादि प्रकार के वचनो को पढकर कोई समझदार व्यक्ति सोचे कि–'क्या ये भी आत्मोद्धार करने वाले शास्त्र हैं? जिन वचनो मे पौद्गलिक आकाक्षाएँ रही हुई है और जिनमे त्याग विराग की मुख्यता नही है, ऐसे शास्त्र, आत्मा के लिए उपकारक कैसे हो सकते हैं? ये तो संसार-भ्रमण का ही मार्ग बताते हैं,' इस प्रकार विचार करते, जिसकी आत्म-परिणति सुधार कर दर्शन-मोह का क्षयोपशमादि हो जाय और पूर्वभव की अवरुद्ध पर्याय खुलकर सम्यक्त्व प्राप्त

करले, तो यह अपवाद स्वरूप है, फिर भी मिथ्याश्रुत तो अपने आप मे मिथ्या ही है, सम्यग् नहीं है। क्योकि वह विशिष्ठ परिणति वाले किसी एक के लिए सम्यग्रूप से परिणत हुआ, किंतु अन्य लाखो के लिए तो वह मिथ्या रूप ही परिणत होकर मिथ्यात्व को पुष्ट करता है। तात्पर्य यह कि मिथ्याश्रुत का पठन-पाठन, मिथ्यात्व का पोषण है, इसलिए वर्जनीय है।

सम्यक्त्व परम दुर्लभ है

विश्व मे अनन्तानन्त जीव है, किंतु सम्यक्त्वी जीव उनके अनन्तवे भाग मे ही है। मिथ्यात्वी जीव सम्यक्त्वी से अनन्तगुण अधिक हैं। अनन्त जीव मुक्त हो चुके और भविष्य मे भी अनन्त जीव मुक्त होगे, फिर भी मिथ्यात्वी जीव तो मुक्तात्माओ से तथा अमुक्त सम्यक्त्वियो से, सदैव अनन्तगुण अधिक ही रहेगे। इसका कारण यह कि यह सारा विश्व मिथ्यात्वी जीवो से ठसाठस भरा हुआ है। विश्व का एक भी ऐसा आकाश प्रदेश नही जो जीव से रहित हो। सूक्ष्म जीवो से सारा विश्व ठसाठस भरा हुआ है और जीवो मे विशालतम संख्या मिथ्यात्वियो की ही है। एकेंद्रियो से लगाकर चौरेन्द्रिय तक के (कुछ अपर्याप्त विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय को छोडकर) समस्त जीव, मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योकि उन्हे न तो श्रवणेन्द्रिय प्राप्त है, न मन ही। मन के अभाव मे असज्ञी पचेन्द्रिय जीव भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। इस प्रकार इन जीवो मे मिथ्यात्व सर्वत्र व्याप्त है और ये जीव सदैव अनन्त (वन-

स्पत्ति अनन्त और अन्य असख्य) ही होते है।

सम्यक्त्व प्राप्ति का मुख्य साधन श्रवणेन्द्रिय की प्राप्ति होना है। जिसे श्रवणेन्द्रिय प्राप्त हुई, वह ज्ञान की बाते सुन सकता है, इसलिए आगमकार ने '**सवणे णाणे य विण्णाणे**' कहा है। इसमे श्रवण की भूमिका सर्व प्रथम प्राप्त होती है। जिसे श्रवण-भूमिका प्राप्त हुई अर्थात् जो श्रोता बने, उनमें से कोई अनुकूल सयोग पाकर आगे बढता है। श्रवण-भूमिका मे पहुंचने वाले तो असंख्य प्राणी है, किंतु उनमे बडी सख्या असज्ञी–मन रहित जीवो की है। ऐसे जीव भी सम्यक्त्व रूपी रत्न पाने के योग्य नही है। जिन जीवो के मन होता है, वे ही श्रवण की हुई वस्तु को अवधारण कर सकते है, चिंतन मनन कर सकते हैं। अतएव मात्र श्रवण मिल जाने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हो सकती। इसके बाद मन का प्राप्त होना भी आवश्यक है।

श्रोतेन्द्रिय तथा मन सहित जीव को ज्ञान सुनकर सोचने की योग्यता प्राप्त होना जितना सरल है, उतना ज्ञान प्राप्ति का योग मिलना सरल नही है। बेचारे नारको और तिर्यंचों को कौन ज्ञान सुनाता है। देवो मे भी बहुत से भोग-विलास मे सराबोर रहते हैं। ज्ञानोपदेश सुनने का योग विशेषकर मनुष्यों को प्राप्त होता है।

मनुष्यो मे भी सम्यग्ज्ञान के सुनाने वाले कितने ? अनार्य देशो मे ऐसा सुयोग प्राप्त होना कठिन ही है, और आर्य देश मे भी ऐसा योग सरल नही है। मिथ्यात्व के चंगुल में फंसे

हुए प्राणियो को सम्यग्ज्ञान के श्रवण का सुयोग प्राप्त होना असभव-सा है। भोग-प्रधान रुचि वाले मनुष्यो को त्याग-धर्म कैसे रुचे ? प्राप्त सुयाग और ज्ञानोपदेश श्रवण करने वाले भी दर्शन-मोह के उदय से सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं, तो जो जन्म से तथा कौटुम्बिक आदि परिस्थितियो से ही निरन्तर मिथ्या बाते सुनने मे रुचि रखते हैं, उन्हे सम्यग्ज्ञान श्रवण करने का सुयोग मिले ही कैसे ? तात्पर्य यह कि यदि श्रवण की भूमिका प्राप्त हो गई, तो ज्ञान की प्राप्ति होना बडा ही कठिन है। उदयभाव के वश होकर जीव, श्रवण-भूमिका को प्राप्त करके भी ज्ञान से वचित रह जाते हैं और जीवन समाप्त कर ऐसी विषम स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं कि जिससे पुनः श्रवण-भूमिका प्राप्त होना ही कठिन हो जाय।

पुण्योदय से किसी जीव को श्रवण के साथ सम्यग्ज्ञान सुनने या पढने का सुअवसर प्राप्त हो भी जाय तो 'विज्ञान-भूमिका' का प्राप्त होना कठिन हो जाता है। यह विज्ञान-भूमिका ही तो सम्यक्त्व प्राप्ति करवाती है। सुनते तो बहुत हैं, पर उस पर चितन मनन करके अवधारण करने वाले तो विरले ही होते हैं। संसार मे ऐसे प्राणी भी होते हैं, जिन्हे सम्यग्ज्ञान—वीतराग वाणी सुनने का सुयोग प्राप्त होता है। वे सुनते भी है, और ज्ञान का अध्ययन भी करते हैं, तथा पूर्वधर तक हो जाते हैं—नौ पूर्व से अधिक ज्ञान का अभ्यास करके महापण्डित जैसे हो जाते है, फिर भी सुविज्ञान-भूमिका की प्राप्ति के अभाव मे वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। उनके पढने

का लक्ष्य, मुक्ति का नही होता। वे परीक्षा मे उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण होकर महापण्डित कहलाना तथा लौकिक सुख-सामग्री प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे विज्ञान-भूमिका से शून्य व्यक्ति, उम्रभर पढते-सुनते रहे, तो भी मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

जिस प्रकार भूमि पर अनुकूल वर्षा हो जाय, खूब-खूब पानी बरसे, किंतु कृषक बीज ही नही बोवे, तो फल कैसे मिले। उसी प्रकार श्रवण रूपी क्षेत्र मे ज्ञान की वर्षा तो खूब होती रहे, पर विज्ञान का बीज ही नही बोया जाय, तो सम्यक्त्व रूपी फल मिले ही कैसे ? अथवा वर्षा खूब हो रही हो, किंतु उस पानी को पीकर पेट मे उतारा ही नही जाय, तो प्यास मिटे कैसे ? जब तक विज्ञान-भूमिका प्राप्त नही होती, तब तक मिथ्यात्व की उष्णता दूर होकर सम्यक्त्व रूपी शीतलता प्राप्त नही होती। सुविज्ञान रहित ज्ञान प्राप्त करने वाले, तो अभव्य जीव भी हो सकते हैं, किंतु उससे उनका मिथ्यात्व नही मिटता। वास्तव मे विज्ञान-भूमिका ही सम्यक्त्व रत्न को प्रदान करती है। इसके बाद विरति धर्म की प्राप्ति होती है–**'सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे,'** तात्पर्य यह कि श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान से संयम की प्राप्ति होती है। जो निसर्गरुचि सम्यक्त्व वाले हैं, वे भी प्राय पूर्वभव मे विज्ञान-भूमि को प्राप्त किये हुए होते हैं। अतएव श्रवण और ज्ञान का सुयोग पाकर विज्ञान-भूमिका को बलवान एवं सुदृढ बनाने का प्रयत्न करते ही रहना चाहिए।

सम्यग्दर्शन का महत्व

धर्म के ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये चार भेद हैं। मोक्ष-मार्ग चारो ही भेदो से युक्त है। इन चारो की उत्कृष्टता ही से मोक्ष प्राप्त होती है। लेकिन इन चारो मे भी सम्यग्दर्शन का महत्व अत्यधिक है। ज्ञान, चारित्र और तप से भी इसका मूल्य बहुत अधिक है। बिना सम्यग्दर्शन के यदि नौ पूर्व से अधिक ज्ञान पढ लिया, उच्च चारित्र का पालन भी कर लिया और उग्र तपस्या से देह को कृश बना डाला, तो फल क्या हुआ ? अकाम-निर्जरा और शुभ-बन्ध ही न ? जो चारित्र और तप, सम्यग्दर्शन के साथ होने पर मोक्ष दिलाने वाला होता है, वही इसके अभाव मे स्वर्गीय सुख देकर फिर दु ख-परपरा मे गिराने वाला हो जाता है। तब मूल्य किसका अधिक हुआ ? सम्यग्-दर्शन का ही।

सम्यग्दर्शन मे वह शक्ति है कि इसकी उपस्थिति मे दुर्गति का बन्ध तो हो ही नही सकता, यदि यह साथ नही छोडे, तो चारित्र की प्राप्ति करा ही देता है—इस भव मे नही हो, तो पर भव मे।

जीव, पहले तो अकाम-निर्जरा के द्वारा ६९ क्रोड़ाक्रोड सागरोपम की मोहनीय की स्थिति को तोडता है, उसके बाद सम्यक्त्व प्राप्त करता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के समय भी उसके एक कोडाकोड सागरोपम लगभग स्थिति के कर्म होते हैं। यदि जीव, सम्यक्त्व को पाकर उसे दृढतापूर्वक पकड रक्खे, तो वह अधिक से अधिक ६६ सागरोपम जितने काल मे ही समस्त कर्मों को नष्ट करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है और यह ६६

सागरोपम की स्थिति भी अधिकतर दैविक सुखो मे बीतती है। बीच के मनुष्य-भव भी उसके सुखो से पूर्ण होते है।

विचार करियें, अधिक निर्जरा किससे होती है ? अनन्त संसार का अन्त कौन करता है ? एक सम्यग्दर्शन ही ऐसा है कि जिसके चलते अनन्त पुद्गल परावर्त्तन का संसार-भ्रमण नष्ट होकर अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन तक सिमट जाता है और सम्यग्दर्शन से रहित चारित्र का पालन किया जाय, तो वह चारित्र और तप, कितना ही उग्र क्यो न हो, एक भी भव कम नही होता। बिना सम्यक्त्व के उच्च चारित्र और उग्र तप का पालन करने वाले अभव्यो के अनन्त भव-भ्रमण मे कुछ भी कमी नही होती। दूसरी ओर कोई अनपढ हो—अधिक पढा लिखा नही हो, चारित्र के गुण भी उसमे नही हो, किंतु सम्यक् श्रद्धान युक्त हो, तो उसका भी मूल्य है, महत्व है। वह दर्शन गुण, उस आत्मा मे चारित्र गुण भी जगा देगा और मुक्ति प्राप्त करा देगा। अत स्पष्ट हो चुका कि सम्यग्दर्शन के बिना पडा हुआ श्रुत भी सम्यग्ज्ञान नही होता, पाला हुआ चारित्र भी सम्यक् चारित्र नही होता और तपा हुआ उग्र तप भी सम्यक् तप नही होकर अकामनिर्जरा का ही कारण होता है। आराधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के बिना तीनो बेकार हैं, किंतु इन तीनो के बिना अकेला सम्यग्दर्शन भी मूल्यवान है। इन तीनो को लाकर मोक्ष मे पहुँचाने वाला है। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष महल की आधार शिला है, अतएव यह महा-मूल्यवान रत्न है। तीन रत्नो मे बहुमूल्य वस्तु—सम्यग्दर्शन है।

इसकी प्राप्ति, रक्षण और सवर्धन मे सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए और आगे बढकर सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए।

चारित्र, केवल इस भव का ही साथी रहता है। भवान्तर मे जाते समय चारित्र साथ नही जाता, मोक्ष पाने वाले का चारित्र भी यही छूट जाता है, किंतु दर्शन तो भवोभव का साथी है। यदि आत्मा उदयभाव के वश होकर इसे नही छोडे, तो यह भवान्तर मे भी साथ जाता है, यहा तक कि मुक्ति मे भी यह साथ रहता है।

उपरोक्त कथन का आशय, चारित्र के महत्व को गिराने का नही है, और यह भी सत्य है कि यदि विज्ञान-भूमिका प्राप्त होने के बाद प्रत्याख्यान-भूमिका नही आवे और चारित्र को प्राप्त नही करे, तो निश्चय ही वह सम्यक्त्व-रत्न को गवाकर मिथ्यात्व मे गिर जाता है। यो सम्यक्त्व की स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ अधिक बताई है, लेकिन विचार करते यह लगता है कि ये ६६ सागरोपम भी चौथे गुणस्थान में नही बीतते हैं। बीच मे प्रत्याख्यान-भूमिका आती है, तब ६६ सागरोपम तक सम्यक्त्व रह सकती है। श्रीमद् सागरानन्दसूरिजी तो लिख गये कि—'के तो आगल वध, के राजी नामुं आप,' अर्थात् सम्यग्दर्शन रूप चौथे गुणस्थान से आगे बढकर प्रत्याख्यान की भूमिका मे आने पर ही सम्यग्दर्शन, ६६ सागरोपम जाजेरा रह सकता है और मुक्ति दिला सकता है। यदि प्रत्याख्यान-भूमिका मे नही आवे, तो पीछे हटकर मिथ्यात्व मे जाना

पडता है। दर्शन प्राप्ति के बाद चारित्र, मुक्ति का प्रत्यक्ष साधन हो जाता है। दर्शन का गुणस्थान मात्र एक ही है—चौथा, लेकिन शेष दस गुणस्थान चारित्र के ही हैं। अतएव चारित्र का महत्व भी कम नही है। यह महत्व भी दर्शन सहचारी चारित्र का ही है, दर्शन रहित चारित्र का महत्व कुछ भी नही है। आगे के सभी गुणस्थानो मे दर्शन साथ रहता ही है। तात्पर्य यह कि चारित्र भी वही मूल्यवान और कार्य-साधक होता है, जो सम्यक्त्व युक्त हो।

जिस प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के बाद शेष तीन कर्मों का क्षय हो जाना अत्यत सरल होता है और अघाति-कर्मों का क्षय भी सरल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शनमोहनीय के हटने से चारित्रमोहनीय का क्षयोपशमादि भी देर-अबेर होता ही है, अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद देर से भी हो, पर कभी न कभी चारित्र की प्राप्ति हो ही जाती है, क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव, चारित्र रुचि-वाला होता है। यदि वर्तमान मे वह चारित्र-मोहनीय के उदय से चारित्र का अंशत. भी आराधन नही कर सकता, तो उसकी चारित्र रुचि उसे कालान्तर मे चारित्र दिला-कर रहेगी।

विज्ञान-भूमिका की दशा

विज्ञान-भूमिका को प्राप्त हुई भव्यात्मा मे निर्ग्रंथ-प्रवचन के प्रति अत्यन्त रुचि होती है। वह स्वीकार करती है कि

"सद्दहामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं, पत्तिया-

मिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं, रोयामिणं भंते ! निग्गंथं पावयणं।"

भगवन् ! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन की श्रद्धा करता हूँ। यह श्रद्धा तो ओघ-सज्ञा से भी हो सकती है। शास्त्रो मे लिखा, इसलिये **'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं'** मानकर श्रद्धा व्यक्त की जा सकती है, लेकिन साधक आगे बढकर उत्साह पूर्वक कहता है कि-'मै निर्ग्रंथ प्रवचन की अपूर्वता-सर्वश्रेष्ठता की प्रतीति (विश्वास-खातरी) करता हू। प्रतीति करने के बाद यदि रुचि-अपनाने की इच्छा (आदर) नही करे, तो भी न्यूनता रहती है, इसलिये वह यह भी कहता है कि-"मैं निर्ग्रथ प्रवचन मे रुचि रखता हूं,' इस प्रकार जिसकी दशा हो, वही विज्ञान-भूमिका को प्राप्त सम्यगृदृष्टि है। वह अपने हृदय मे दृढता-पूर्वक मानता है कि-"इस विश्व मे एक मात्र निर्ग्रथ-प्रवचन ही आत्मा के लिये वास्तविक अर्थ-प्रयोजन है, यही परमार्थ है, इसके सिवाय सभी अनर्थ है, दु ख-परंपरा के बढाने वाले हैं, अनादि संसार के हेतु हैं,"-इस प्रकार का श्रद्धा-बल, प्रात.-स्मरणीय आनन्द, कामदेव और अरहन्नक आदि श्रेष्ठ श्रम-णोपासको मे था। वे गृहस्थ होते हुए भी. जिनेश्वर द्वारा प्रशसित थे। उनकी दृढता, साधुओ के लिये भी आदर्श रूप थी। इस प्रकार की दृढ श्रद्धा, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे होने पर वह क्षायिक सम्यक्त्व की कारण बनती है और यथाख्यात-चारित्र प्राप्त करवाकर जैन से जिनेश्वर बना देती है।

वर्त्तमान युग मे दर्शनमोहनीय के उदय से प्रेरित, कई

जैन नामधारी लोग, श्रद्धालुओ की श्रद्धा को नष्ट करने के लिये 'सर्वधर्म समभाव' की जहर की मीठी गोली खिला कर दर्शन रूपी आरोग्यता को नष्ट करते हैं और मिथ्यात्व रूपी रोग के घर बना देते हैं। नकली वस्तु देकर असली वस्तु छीनते हैं, मोक्षमार्ग छुडाकर ससार-मार्ग मे जोडते है। ऐसे लोगो से सावधान रहना चाहिये और अपने सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न की रक्षा करनी चाहिये।

श्रद्धालुओं का परम आधार

सम्यक्त्व का मूल आधार, देव-तत्त्व पर विश्वास करना है, क्योकि धर्म का उद्गम स्थान ही देव है। सर्वज्ञ जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट धर्म ही सत्य–परम सत्य है। वह शाश्वत सुखो का देने वाला है। यही धर्म उपादेय है। परमार्थ साधक और परमपद के इच्छुक को सबसे पहले, धर्म के उद्गम स्थान देव-तत्त्व को पहिचानना चाहिए। जिस प्रकार बाजार मे ग्राहक के सामने असली, नकली, बढिया, घटिया, विशुद्ध, अशुद्ध, निर्दोष, सदोष और अच्छी बुरी सभी तरह की चीजें आती है, यह ग्राहक की योग्यता और विवेक-बुद्धि पर निर्भर है कि वह कैसी वस्तु अपनावे। असली ले या नकली, अच्छी ले या बुरी, उसी प्रकार आत्म-साधक व्यक्ति के सामने भी इस ससार रूपी बाजार मे अनेक धर्म और मन्तव्य उपस्थित होते हैं। उन सब में से किसे अपनाना, यह साधक की विवेक-बुद्धि को सोचना है। बुद्धिमान परीक्षक सोचता है कि मैं किसकी बात मानूं ?

जो बुराइयाँ और खामियाँ मुझ मे हैं, उन्ही बुराइयो और खामियो के पात्र का पल्ला पकड़ने से मेरा निस्तार नही होगा। जो स्वय विषय और कषाय मे ओतप्रोत है, रागद्वेष से जिनका सम्बन्ध दृढतापूर्वक लगा हुआ है, और जो अज्ञान के पाश से मुक्त नही हुए है, उनका आश्रय लेने से मेरा क्या हित होगा? जिस प्रकार दरिद्र की सेवा से कोई धनवान नही हो सकता, उसी प्रकार संसार-रत प्राणी की सेवा से मुक्ति लाभ नही हो सकता। इस प्रकार सोचते हुए, जिस सद्भागी साधक की दृष्टि जिनेश्वर देव की ओर जाती है। वह सहसा बोल उठता है कि—

अहो! मिल गया। वह अचिन्त्य चिन्तामणि मिल गया। भव्य जीवो का जीवन आधार, विश्वत्राता, जिसे मैं विश्व की धर्म-हाटो मे ढूँढ रहा था, वह धर्मराज, प्रकृति की सुन्दर वाटिका के शान्त एकान्त स्थान मे मिल गया। अहो! इस विश्व-हितङ्कर मे कितनी शान्ति विराज रही है। इस महामानव मे न तो विषयो के विष का लेश है और न कषायो का कलुष ही। राग-द्वेष विहीन यह विश्व-पिता, प्रत्येक भव्य को यही सन्देश देता है कि—

"देवाणुप्पिया! बुज्झ! बुज्झ!! बुज्झ!!! संबुज्झं किं न बुज्झह?" मैने उस लोकनायक का महान् उपदेश सुना। वह सर्वज्ञ था। उसकी वाणी अपूर्व एवं अविरुद्ध थी। दुनिया के दूसरे धर्म-नायको की तरह उसकी वाणी मे विसंवाद नही था। उस सर्वदर्शी धर्म-सम्राट ने विश्व के ऐसे

रहस्य प्रकट किये कि जिन्हे दुनिया का दूसरा कोई भी देव नही जान सका। अहो! मैं कितना भाग्यशाली हू। आज मुझे मेरा तारक मिल गया। मैं निहाल हो गया। संसार की समस्त संपत्ति मुझे मिल गई।"

जो वीतराग एवं सर्वज्ञ हो, वही सच्चा मार्ग-दर्शक हो सकता है। तत्त्वो का वास्तविक स्वरूप और आत्मोत्थान की उत्तम विधि वही बता सकता है। वह दुनियाँ के दूसरे देवों की तरह रुष्ठ और तुष्ठ नही होता। वह प्रत्येक आत्मा मे परमात्म-सत्ता स्वीकार करता है। वह किसी एक ईश्वर को जगत् का नियामक स्वीकार नही करता। उसके तत्त्व-ज्ञान मे अनन्त ईश्वरो का अस्तित्व है और सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा कोई भी आत्मा, परमात्मा बन सकता है–ऐसा उसका उद्घोष है। उसके मार्ग मे छोटे बडे और सूक्ष्म प्राणियो तक की अहिंसा का अद्वितीय विवेक है। आत्म-शुद्धि का क्रम तथा कर्म-निर्जरा का जैसा स्वरूप, जिनेश्वर के धर्म मे है, वैसा अन्यत्र कहा है?

वर्तमान मे, उस विश्वोत्तम द्वारा सुवासित वातावरण मे रहकर भी जो जीव, उसको नही पहिचान सकते और दूसरे रागी द्वेषी तथा अल्पज्ञो के चक्कर में पडकर, उस परमवीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा को, असर्वज्ञ एवं रागी बताते हैं, उसका महत्व गिराकर उसे निम्न-कोटि का बताते है, वे सचमुच जिन-धर्म के विरोधी हैं। भव्य-प्राणियो को मिथ्यात्व मे भटकाने वाले है और हैं मोक्षमार्ग के प्रत्यनीक। ऐसे व्यक्तियो के हाथ में यदि नेतृत्व आ जाय, तो वे अपने कुकृत्यो से इस उत्तमोत्तम मार्ग

का लोप करने मे ही अपनी शक्ति लगाते हैं। जो जिनेश्वर भगवतो की वीतरागता सर्वज्ञता नही मानते, वे जैनत्व से ही इन्कार करते है। जब जिनेश्वर वीतराग नही, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नही, तो उनका उपदिष्ट मार्ग भी विशुद्ध नही। उनमे भूल एव स्खलना हो सकती है, तो उनके मार्ग के प्रचारक–गुरुवर्ग भी उसी दूषित मार्ग के प्रचारक हो सकते हैं। धर्म का मूल उद्‌गम स्थान ही जहाँ त्रुटिपूर्ण हो, तो उनका धर्म और उसके आश्रित गुरु-वर्ग भी त्रुटिपूर्ण ही होता है। इस प्रकार भगवान् जिनेश्वर देवो की वीतरागता और सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता को नही मानने वाले, उनके मार्ग को भी त्रुटि-पूर्ण माने, तो इसमे सन्देह ही क्या है? ऐसे लोग, जिनेश्वर, उनके तत्त्वोपदेश तथा मुक्तिमार्ग के विरुद्ध प्रचार करने वाले हैं, उनका महत्व गिराने वाले हैं, वे भव्य-जीवो के हित-शत्रु हैं।

हा, तो धर्म का उद्‌गम स्थान देव-तत्त्व है। आत्मा को परमात्मा बनानेवाली प्रकिया का वास्तविक उपदेष्टा यदि कोई है, तो केवल सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवत ही। धर्म के इस मूलाधार को यथार्थ रूप मे मानने वाला, उनके प्रवचनो पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाला ही सम्यक्त्व युक्त हो सकता है। जिसके हृदय मे जिनेश्वर भगवंतो की परम वीतरागता, सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता तथा उनके निर्ग्रंथ-प्रवचन मे श्रद्धा नही–दृढ श्रद्धा नही, वह सम्यग्दृष्टि नही है, मिथ्यादृष्टि है।

जो धर्म के मूलाधार ऐसे देवतत्त्व पर श्रद्धा रखता है, वही गुरु-तत्त्व पर भी श्रद्धा रखता है। गुरु के गुरुत्व की कसोटी

उसके सामने मौजूद रहती है। देव के बताये हुए गुरु के लक्षणो से युक्त, सर्वत्यागी, मुक्ति-पथ के पथिक, निरवद्य जीवन व्यतीत करने वाले और जिनेश्वर भगवत के वचनो का प्रचार करने वाले ही सच्चे गुरु हैं। वे मुक्ति-पथ के सार्थ हैं। आचार्य उनके सार्थवाह हैं, इतना ही नही, वे जिनेश्वर भगवंत के प्रतिनिधि हैं और अपनी साधना से वे शीघ्र ही जिनेश्वर के समान होने वाले हैं। निर्ग्रंथ मुनिराज, सम्यग्दृष्टियो के लिए दूसरे आधार है।

वर्त्तमान समय मे इस गुरु पद का वेश धारण करके कई लोग अपनी कुश्रद्धा और कदाचार से निर्ग्रंथ-धर्म का लोप करते है। कई ससार-मार्ग के प्रचारक बन गये हैं। उन्हे अपने वेश का भी विचार नही होता। वे जैन-मुनि कहाते हुए भी जिनेश्वरो का महत्व गिरावे, और उन्हे अन्य रागी एवं अल्पज्ञो की श्रेणी मे रखे, तथा सावद्य प्रचार करें, तो वे वास्तव मे सुगुरु नही, कुगुरु हैं। सुगुरु के वेश मे कुगुरु हैं। सम्यग्दृष्टियो का कर्त्तव्य है कि ऐसे धर्म-घातक स्वागधारियो का संसर्ग भी, कुगुरु त्याग की तरह त्याग दें। ऐसे लोग तथा-रूप के कुगुरु से भी अधिक भयानक होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति और स्थिति का तीसरा आधार, सम्यक्-श्रुत है। सम्यक्-श्रुत वह है—जिसमे निर्ग्रंथ-प्रवचन सुरक्षित है। ऐसे आचारागादि सम्यक्-श्रुत के श्रवण, पठन, मनन से सम्यक्त्व की प्राप्ति, स्थिति, रक्षा और वृद्धि होती है। सम्यक्-श्रुत, उत्थान मे सहायक होता है। इसके आधार से हम देव और

गुरु का स्वरूप, अगार तथा अनगार धर्म और निर्वाण-मार्ग को जान सकते हैं और यथाशक्य आचरण करके उन्नत हो सकते है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्यो के लिए सम्यक्-श्रुत ही मति-श्रुत ज्ञान मे वृद्धि तथा अवधि, मन पर्यव और केवलज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है। सम्यक् श्रुत के अवलबन से आत्मा अशुभ परिणति से बचकर प्रशस्त भावो मे विचरण करता है। यह श्रुतावलम्बन ही आत्मावलम्बन का कारण है। इससे परावलम्बन छूटकर आत्मावलम्बन बढता है।

तत्त्वार्थ श्रद्धा

कुदेवादि को मानना अथवा 'जीव को अजीव' आदि खोटी मान्यता रखना ही मिथ्यात्व है—ऐसी बात नही है। यह विवेचन तो उन जीवो की अपेक्षा से है, जो किसी अन्य देवादि के मानने वाले हो। ससार मे अनेक प्रकार के मत चल रहे हैं, जो अपने पक्ष को धर्म के नाम से चलाते हैं। उनमे से बहुत से पुण्य, पाप, स्वर्ग, नर्क आदि मानते है। कुछ 'मोक्ष' को भी मानते हैं, भले ही उनकी मान्यता विपरीत हो, परन्तु वे भी अपने मत को 'धर्म' ही कहते है। इस प्रकार के अन्य-मतो को ही असम्यग्-दृष्टि कहने से विवेचन अधूरा ही रहता है। शेष ऐसे जीव भी रह जाते है जो किसी भी धर्म या पंथ को नही मानते। कुछ तो धर्म मात्र से घृणा करके धर्म-निरपेक्ष हो गये हैं और कई ऐसे हैं कि जिनके जीवन का लक्ष ही

अर्थ-प्राप्ति या भौतिक सुखो मे लीन रहना है, तथा धर्म का सबंध केवल मन वाले सज्ञी-जीवो से ही है, असंज्ञी जीव तो सभी ऐसे हैं कि जिनका किसी भी धर्म से कोई संबंध ही नही है। इस प्रकार के असंज्ञी, और धर्म-निरपेक्ष सज्ञी जीवो को 'कुश्रद्धा' रूप मिथ्यात्व नही लगता, फिर भी वे सम्यग्दृष्टि नही है। क्योकि उनमे वास्तविक तत्त्व-श्रद्धा का अभाव है। उनमे कुश्रद्धा नही, परन्तु अश्रद्धा है। तत्त्व की रुचि नही और जबतक तत्त्व-श्रद्धा नही होजाय, तबतक जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है। तात्पर्य यह कि मिथ्यात्व निवृत्ति के लिए तत्त्व-श्रद्धान होना परमावश्यक है। इसीलिए उत्तराध्ययन २८ मे 'कुदर्शन-वर्जन' रूप आचार के पूर्व ही 'परमार्थ-संस्तव' और 'सुदृष्ट परमार्थ सेवन' रूप आचार का होना है। तत्त्वार्थ सूत्र भी "**तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**" कहता है। तात्पर्य यह कि कुश्रद्धा त्याग ही पर्याप्त नही, किन्तु तत्त्वार्थ-श्रद्धा होने पर ही मिथ्यात्व छूटता है और सम्यग्दृष्टि बनता है। मिथ्यात्व त्याग के लिए तत्त्वार्थ श्रद्धा आवश्यक है।

पहले से चौथा कब ?

'सम्यग् दर्शन' ही सिद्धि का प्रथम सोपान है, धर्म की मूल-भूमिका है। इसके बिना प्राणी अनाराधक रहता है, फिर भले ही वह प्रशान्त कषायी और शुक्ल-लेश्या युक्त क्यों न हो। प्रथम गुणस्थान में पाचो महाव्रतो का कठोरता से पालन भी होता है, उग्र तपस्या भी होती है। इतना होते हुए

भी वह आराधक नही माना जाता, उसका गुणस्थान पहला ही होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि उस क्रिया के साथ धर्म का आधारभूत सम्यग्दर्शन नही है। वह सारी साधना, विना नीव के हवाई-महल के समान है। गुब्बारा (फुग्गा) वही तक आकाश मे ऊँचा उडता रहता है, जबतक कि उसकी हवा नही निकले। जबतक उग्र आचार से प्राप्त शुभ-कर्म रूपी हवा की शक्ति है, तबतक वह प्राणी दैविक सुख पाता रहता है, और जहा यह शक्ति खत्म हुई, तो ऐसा नीचे गिरता है कि फिर उसके लिए दु ख-परम्परा ही मुख्य रह जाती है। सम्यक्त्व के अभाव मे उसकी साधना, आराधना की सीमा मे नही आ सकती।

सत्रह पापों के सद्भाव में भी

चौथे गुणस्थान मे अठारह पाप मे से एक मिथ्यात्व जाता है, शेष १७ पाप-स्थान रहते है। फिर भी वह आराधना की जघन्य सीमा मे तो आ ही जाता है।

एक ओर १७ पापस्थान रहते हुए भी आराधक, और दूसरी ओर चारित्राचार का कठोरता से पालन करते हुए भी अनाराधक। पहले के लिए चौथा गुणस्थान, तब दूसरे के लिए पहला ही। इसका मुख्य कारण ही सम्यक्त्व की महिमा है, यथार्थ श्रद्धा का महत्व है। जिसकी दृष्टि सुधर गई, उसका आचरण भी कभी सुधरता है। चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से यदि वह इस भव मे, चारित्र प्राप्त नही कर सकता, तो अगले मनुष्य-भव मे चारित्र प्राप्त कर लेगा। यदि अगले मनुष्य

भव मे चारित्र प्राप्त नही किया और सम्यक्त्व का संबल भी छूट गया, तो एक बार के सम्यक्त्व के संस्कार, उसमे फिर से सम्यक्त्व को जगा देगा और अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन तक तो उसे मोक्ष में पहुँचा ही देगा।

ज्ञान भी अज्ञान

मिथ्यात्व के सद्भाव मे ऊँचे प्रकार का ज्ञान भी अज्ञान होता है। कई प्राणी ऐसे होते हैं, जिनमे ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से जानकारी अधिक होती है। नव पूर्व से अधिक ज्ञान तक पा लेते हैं, और उनके उपदेश से दूसरे प्रतिबोध पाकर अपना हित साध लेते हैं, किंतु वे तो ज्ञानियो की दृष्टि में अज्ञानी ही रहते हैं। जिस प्रकार सम्यक्त्व के अभाव मे उग्र चारित्र भी अचारित्र रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव मे पूर्वों का आगमिक ज्ञान भी अज्ञान होता है और तप भी बन्ध का कारण होता है।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही—उसी समय अज्ञान, ज्ञान के रूप मे परवर्तित हो जाता है। एक समय का भी अन्तर नहीं रहता, फिर भले ही वह स्वल्प ही हो। और बिना सम्यक्त्व के पूर्वो का ज्ञान भी अज्ञान रहता है। सम्यक्त्व मे वह शक्ति है कि वह अज्ञान को ज्ञान बना देती है।

इतना महत्त्व क्यों ?

कोई पूछ सकता है कि 'सम्यक्त्व को इतना महत्त्व क्यों

दिया गया ? ज्ञान, चारित्र और तप से भी सम्यक्त्व को अत्यधिक महत्व देने का कारण क्या है ? ' प्रश्न ठीक है। समाधान मे कहा जाता है-किसी भी कार्य मे प्रवृत्ति करने के पूर्व उसके उद्देश्य, नियम तथा परिणाम को समझ लेना आवश्यक है। बिना सोचे-समझे किया हुआ प्रयत्न बेकार जाता है और दु ख-दायक भी हो जाता है।

आँखो पर पट्टी बांध कर चलने वाला या अन्धा व्यक्ति, गलत दिशा मे चलकर इच्छित स्थान से दूर भी चला जाता है, और कूएँ या खड्डे मे गिरकर जान से हाथ भी धो लेता है। यदि उसकी आँखो की पट्टी खुल जाय या नैत्र की ज्योति प्राप्त कर ले, तो वह खाई खड्डे से बचकर निश्चित्त स्थान पर पहुँच सकता है।

एक बाई, यदि बिना सोचे समझे भोजन की सामग्री का उपयोग करे और हलवे मे नमक मिर्च और मसाले मिला दे, तथा दाल शाक मे शक्कर आदि डाल दे, तो वह परिश्रम करते हुए और मूल्यवान सामग्री लगाते हुए भी विफल तथा निन्दा की पात्र होगी।

एक निशाने बाज, पूरी शक्ति और बढिया साधनो से निशाना लगावे, किंतु उसकी दृष्टि सधी हुई नही है, तो वह निशाना नही वेध सकेगा। उसका निशाना चूक जायगा और उसका प्रयत्न बेकार हो जायगा।

दो भूखे चूहे, भोजन की तलास मे निकले। उन्हे मिठाई की सुगन्ध आगई थी। उस घर में एक सँपेरा ठहरा

था। उसके एक करंडिए मे साँप और दूसरे मे मिठाई थी। एक चूहे ने करंडिए को सूंघा, पहले मे उसे सुगन्ध नही आई, वह दूसरे करडिए के पास गया और सुगन्ध पाकर उसे काटकर मिठाई खाई। दूसरे चूहे ने बिना सोचे-समझे साँप वाले करडिए को काटा और साँप का भक्ष बन गया।

यह है बिना सोचे समझे प्रयत्न का परिणाम। बिना सोचे-समझे प्रयत्न करने से सुख के बजाय दुःख पल्ले पडता है और राष्ट्र तक बरबाद हो जाते हैं। इन उदाहरणो से सम्यग्-दर्शन का महत्व समझ मे आ सकता है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे ही जीव, अनादिकाल से संसाराटवी में परिभ्रमण कर रहा है। इसके बिना कठोर संयम तथा उग्र तप भी बेकार से रहे। यह है सम्यग्दर्शन का महत्त्व।

अपरिवर्त्तनीय

सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न की प्राप्ति सरल नही है। यह किसी की इच्छा या समझ पर आधारित नही है और न किसी के अभिप्रायो से इसका रूप बनता-बिगडता है। यह अपने आप मे जैसा है वैसा ही है। सर्वज्ञ भगवतो ने सम्यग्-दर्शन का जो स्वरूप बताया है, वही सत्य तथ्य और यथार्थ है। उसी की आराधना से ध्येय की सिद्धि होती है।

यदि कोई लौकिक विद्याओ का पडित—विश्व-विद्यालयो का प्रोफेसर, प्रिंसिपल अथवा भौतिक विज्ञान का आचार्य, सम्यग्दर्शन के विषय मे अपना अभिप्राय व्यक्त करे, और वह

आप्त-वचनो के किंचित् भी विपरीत लगता हो, तो उसे स्वीकार नही किया जा सकता। क्योकि वीतराग सर्वज्ञ भगवंतो के सिद्धात मे, छद्मस्थ त्रुटि नही बता सकता। वह इसके योग्य ही नही है। आजकल के प्रोफेसरो को, पूर्व के ज्ञान का अश भी ज्ञात नही है, जब नौ पूर्व से अधिक पढे हुए भी मिथ्या-दृष्टि हो सकते हैं, तो आजकल के इन प्रोफेसरो की हस्ति ही क्या है ? ये तो उनके सामने वामन और बेतिये से भी छोटे हैं। यदि इनकी स्वच्छन्द-बुद्धि के अनुसार सम्यग्दर्शन का रूप बनता हो, तो वह एक रूप मे रह भी नही सकता। भिन्न-भिन्न पडितो के भिन्न भिन्न मत होते हैं, किंतु सम्यग्दर्शन का रूप तो एक ही है। अतएव इसके स्वरूप के विषय मे किसी को अपनी टाग अडाना निरी हिमाकत है, अनधिकार हस्तक्षेप है। एक अश्र-द्धालु–कुश्रद्धालु, जिनेन्द्र भगवान् के सिद्धातो को बिगाडने की कुचेष्टा करे, यह उसकी स्वच्छन्दता का नग्न ताण्डव ही है।

एक भाषा-शास्त्री है, वह आरोग्य शास्त्री, न्यायशास्त्री, युद्ध-विद्या-विशारद, वाणिज्य निपुण और कृषि विशारद आदि नही हो सकता–यह सब कोई जानते हैं। तब वह धर्म-विशारद धर्मज्ञ और धर्म का महाज्ञानी बनने का ढोग करके आप्त सिद्धातो को झुठलाने की कुचेष्टा क्यो करता है ? वह जिन शब्दो और वाक्यो का अपनी स्वच्छन्दता पूर्वक भिन्न अर्थ करता है और संस्कृति के प्रतिकूल परिणाम निकालता है, क्या यह उसकी अनधिकार चेष्टा नही है ?

आत्मार्थियो का कर्त्तव्य है कि वे हिताहित को समझें

और कुप्रचारको के चक्कर मे नही आकर जिनेश्वर भगवंतो के वचनो पर पूर्ण विश्वास रखे। अपनी श्रद्धा की सुरक्षा ही ससार से पार उतारने वाली प्रथम शक्ति है। परम दुर्लभ ऐसी सुश्रद्धा को पाकर जो उसे सुरक्षित रखता हुआ आगे बढेगा, वह अवश्य मुक्ति लाभ करेगा।

सम्यग्दृष्टि का निर्णय

कोई कहते हैं कि–'मनुष्य अपनी दृष्टि का निर्णय स्वयं कर सकता है। "मैं सम्यग्दृष्टि हूं या मिथ्यादृष्टि," इस विषय का निर्णय आत्मा अपने आप कर सकती है। उसे किसी दूसरे के निर्णय की आवश्यकता नही रहती' इस प्रकार दृढतापूर्वक आग्रह के साथ कथन किया जाता है। इन पंक्तियो मे इसी पर विचार किया जाता है।

हम अपने आप मे सम्यक्त्व होने का निर्णय कर सकते है, अवश्य कर सकते है, किंतु किसी प्रामाणिक आधार–कसौटी के बल पर ही। बिना किसी आधार या अशुद्ध आधार से, अपनेआप किया हुआ निर्णय गलत भी हो सकता है। प्रामाणिक कसौटी पर कस कर किया हुआ निर्णय भी गलत हो सकता है, तो बिना किसी आधार के निश्चित्त किये हुए विचार का तथ्यहीन सिद्ध हो जाना असंभव नही है। व्यवहार मे भी हम देखते और अनुभव करते है कि जिन रोगो को हम साधारण और सुसाध्य मानते हैं, वे दु:साध्य अथवा असाध्य सिद्ध होते है। तपेदिक आदि रोगो मे डॉक्टर का निदान सुनकर कितने

ही लोग चौंक उठते है। पहले उनको इसका आभास ही नही होता। इसी प्रकार मुकद्दमो का फैसला, प्रतियोगिता मे अपने निश्चय के विपरीत परिणाम आना, पूर्णरूप से लाभ के विश्वास के साथ किए हुए व्यापार मे हानि हो जाना, आदि ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरण है, जिससे हमारी धारणा एवं मान्यता के विपरीत फल होता दिखाई देता है, तब 'अपनी दृष्टि यथार्थ है या नही, हमारी आत्मा पर दर्शन-मोहनीय का आवरण है या नही, अथवा क्षयोपशम होगया है,'—यह कैसे जान सकते हैं ? यदि कोई अपने मन से निश्चय कर ले कि 'मैं सम्यग्दृष्टि ही हूं,' तो क्या उसका यह निश्चय सत्य ही होता है, उमे भ्रम नही हो सकता, यह कैसे कहा जा सकता है ?

हाँ, हम शास्त्रो की तुला पर अपने विचार एव परिणति को तोल कर निर्णय करे, तो वह बहुधा सत्य हो सकता है। इसके लिए शास्त्रो को कसौटी रूप बनाकर, उस पर अपनी परिणति को कसकर, बुद्धिमता पूर्वक निर्णय करे, सम्यग्दृष्टि के लक्षण आदि अपने मे पावे, तो वह निर्णय बहुधा ठीक हो सकता है, किंतु बिना किसी प्रौढ एव वास्तविक आधार के ही मनस्वीपने से कोई अभिप्राय बनाले, तो ऐसे विचार बहुधा भ्रामक होते हैं।

जिनागमो मे उल्लेख है कि सूरियाभ आदि देव और इन्द्र, अवधि जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान के धारक होते हुए भी अपनी दृष्टि के विषय मे भगवान् महावीर प्रभु से पूछते हैं कि—"प्रभु! मैं सम्यग्दृष्टि हूं या मिथ्यादृष्टि ?" वे अपने विषय मे सर्वज्ञ

भगवान् के निर्णय को जानना चाहते हैं और उसी निर्णय को स्वीकार करते है। ऐसे उल्लेख हमे यह बतलाते हैं कि बिना शास्त्रीय आधार के अपने आपके लिए दृष्टि का निर्णय कर लेना और उसे सर्वथा सत्य मान लेना अनुचित है।

यदि ऐसा निर्णय करने की शक्ति सर्व साधारण मनुष्यो मे होती, तो बहुत से मनुष्य मिथ्यादृष्टि नही रहते। तामली तापस और पूरन तापस जैसे कितने ही अजैन तापस, आत्मार्थी थे। उनकी कषाये पतली एवं उपशान्त थी, उनमे दुराग्रह नहीं था। वे अपनी मान्यता को पूर्ण रूप से सत्य मानकर कठोर साधना करते थे। फिर भी उनकी दृष्टि शुद्ध नही थी। वे भ्रम मे ही थे और अपने भ्रम को ही यथार्थ मानते थे। जब उनका भ्रम दूर हुआ, तभी वे सम्यग्दृष्टि हुए। ग्रैवेयक मे जानेवाले सलिगी मिथ्यादृष्टि की आत्म-परिणति और चर्या कितनी ऊँची होती है ? शुक्ल-लेश्या युक्त एवं मनोयोग पूर्वक संयम साधना करते हुए भी वे मिथ्यादृष्टि रहे। क्या वे अपने आप को मिथ्यादृष्टि मानते थे ? नही। वे अपनी मान्यता को सत्य एवं यथार्थ मानते थे और दूसरे यथार्थ मानने वालो को असत्य मानते थे। यदि उन्हे अपनी भूल दिखाई देती, तो वे उसे छोडकर सत्य अपना लेते। वे अपनी मान्यता को सत्य एवं सम्यग् ही मानते थे। यह उनका भ्रम था। वे भ्रम को ही यथार्थ मानते थे। इस प्रकार की भूल सामान्य मनुष्य से ही नही, पूर्वधर से भी हो सकती है। ऐसी दशा मे सामान्य मानव कहे कि—'अपने मे सम्यक्त्व होने का सत्य निर्णय मनुष्य स्वत कर सकता है,' यह

कितनी तथ्य-हीन बात है ?

परमतारक प्रभु महावीर से साक्षात्कार होने के पूर्व श्री इन्द्रभूतिजी आदि भी अपने आपको सत्पथगामी और भगवान् को दभी एव इन्द्रजालिक मानते थे।

श्री आर्द्रकुमार निर्ग्रन्थ के सम्पर्क मे आनेवाले तापसादि अपने को सत्पथगामी ही मानते थे। जमाली भी अपनी विचारणा को सत्य मनता था और भगवान् के सिद्धात को असत्य कहता था, किंतु ये सब असत्य सिद्ध हुए। अतएव बिना सैद्धातिक कसौटी के अपनेआपको सम्यग्दृष्टि मानना भ्रम है—बुद्धि का विपर्यास है।

मनुष्य, अपनी बुद्धि, विचारणा और निश्चय के अनुसार किसी बात का निर्णय करलेता है एवं तदनुसार ईमानदारी पूर्वक निष्कपट भाव से प्रचार भी करता है, किंतु उसकी विचारणा एवं निश्चय, निर्दोष ही है, भ्रम रहित ही है, यह कैसे कहा जा सकता है ? यदि ईमानदारी से किये हुए सभी निर्णय सत्य ही होते हो, तो अपील-कोर्टो मे कोई भी निर्णय नही बदला जाना चाहिए, और अपील-कोर्ट की आवश्यकता ही नही रहनी चाहिए। अपील-कोर्ट से भी भूले होती है। कभी निर्दोष दडित हो जाते है और अपराधी निर्दोष होकर छूट जाते है। अतएव 'मनुष्य का अपना निर्णय सत्य ही होता है'—यह मानना भूल है। जब पौद्गलिक विषयो मे भी भ्रम से असत्य निर्णय हो जाते हैं, तब तात्त्विक एवं आत्मिक विषय में मनस्वी निर्णय सत्य ही होता है—यह कहना तो दुसाहस ही है।

अतएव शुद्ध निर्दोष ज्ञानियो के आधार का अवलम्बन लेकर अपनी परिणति देखना और निर्दोष बनने का प्रयत्न करना ही हितकर है।

स्व-पर विवेक

जड के सम्बन्ध से हमारी आत्मा इतनी अधिक बँधी हुई है कि जिससे छूटना बड़ा कठिन हो रहा है। बन्धनो की कठोरता, अधिकता और दृढतमता ने, अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा को एकदम कमजोर बना दिया और बन्धनरूप शत्रु बलवान हो गया। बलवान शत्रु पर विजय पाना, कमजोर व्यक्ति के लिए अशक्य है। उसे तो हर हालत मे दूसरे की सहायता लेनी ही पडेगी। बिना दूसरो की सहायता के एक कमजोर व्यक्ति, कभी विजय प्राप्त नही कर सकता।

आत्मा, कर्मों के बन्धनो मे बंधी हुई है, आज से नही, अनादिकाल से। अनन्त आत्माएँ तो ऐसी है कि जिन्हे अपनेपन का ज्ञान ही नही है। कई आत्मा के अस्तित्व को ही नही मानते, कई मानते हैं, तो स्वरूप की अज्ञानता से विपरीत समझते हैं। कुछ जीव ऐसे भी हैं जिन्हे आत्म-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है और वे शत्रु तथा मित्र को पहिचानते हैं। ऐसे थोडे से जीव ही कर्म-शत्रु पर विजय प्राप्त कर स्वतन्त्र होने मे यथाशक्ति प्रयत्नशील हैं। वे मानते हैं कि कर्म-बन्धनो मे जकड़ी हुई आत्मा, किस प्रकार मुक्त हो सकती है।

शंका–आत्मा, स्वतन्त्र द्रव्य है। उसे जड-कर्म नही बाँध

सकते। जीव और अजीव दोनो स्वतन्त्र द्रव्य हैं। जो आत्मा होकर अपने को जड-कर्मों के बन्धन मे बधा हुआ मानता है, वह मिथ्यात्वी है। वह आत्मा की अनन्त शक्ति को नही समभने वाला अज्ञानी है। जब आत्मा बन्दी ही नही, तो मुक्त होने का प्रशन ही कैसे हो सकता है ?

समाधान—शरीरधारी को एकात 'मुक्त आत्मा' कहना तो प्रत्यक्ष ही असत्य है। उसे कथचित् बन्दी मानना ही पडेगा। अन्यथा विविध शरीरो और रूपो मे—मनुष्य, पशु, त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर आदि पृथक् पृथक् भेदो एव शरीरो मे वह क्यो रहा हुआ है ?

जब सभी आत्मा मे अनन्त ज्ञानादि शक्ति समान रूप से रही हुई है, तो एक ज्ञानी दूसरा अज्ञानी, एक सम्यक्त्वी दूसरा मिथ्यात्वी, एक सुखी दूसरा दुखी, एक सम्पन्न दूसरा विपन्न, एक संज्ञी दूसरा असज्ञी,—ये भेदानुभेद ही क्यो है ? जब ये भेद है, तो मानना पडेगा कि शक्ति मे भी भेद है। जब मूल शक्ति सब मे समान रूप से है, इसमे किंचित् मात्र भी अन्तर नही है, तो ये दृश्यमान भेद क्यो हुए ? इसका एक मात्र समाधान यही है कि आत्मा, जड के बन्धनो मे बंध कर पराधीन हो गयी है। उसकी ज्ञानादि शक्ति अवरुद्ध है। छोटे बालक और युवक मनुष्य की मूल आत्म-शक्ति तो समान ही है, पर एक युवक, अनेक बालको से अधिक बलवान है। वह अनेक बालकों को भयभीत कर देता है, पीट देता है और जान से मार भी सकता है। उसके सामने बालक तुच्छ, निर्बल और

अपनी रक्षा करने योग्य नही माना जाता। इसका यही कारण है कि युवक की शक्ति कुछ विकसित है, तब बालक की शक्ति अवरुद्ध है–बद्ध है। उसका विकास नही हो पाया है। वह युवक की अपेक्षा विशेष बन्दी है।

संसार के सभी प्राणियो मे गति, स्थिति, इन्द्रियादि सबधी जो विविधता दिखाई देती है, वह बन्धनावस्था ही के कारण है। मुक्त जीवो मे कोई भेद नही रहता। सभी मुक्तात्माओ की शक्ति, ज्ञान, सुख आदि समान है। भेद संसारियो मे ही रहा हुआ है। एक केवलज्ञानी पाँच सौ धनुष्य जितना दीर्घ शरीरी है, तो दूसरा दो हाथ से भी कम लम्बा। एक लगभग करोड पूर्व तक मनुष्य शरीर मे रहता है, तो दूसरा केवल प्राप्ति के कुछ देर वाद ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। एक के अतिशयो की ऋद्धि है और विशाल शिष्य-परिवार है, तो दूसरा माथे पर आग का भीषण उपसर्ग सहता हुआ एकाकी अवस्था मे देह त्यागता है। एक गुरु है, तो दूसरा शिष्य है। जब कि इनके सभी के केवलज्ञानादि आत्मिक गुण समान हैं, किंचित् भी अन्तर नही है। इससे सिद्ध हो जाता है कि संसारी जीव, जड के संयोग से संबधित है, बन्दी है और इसी से यह विविधता है।

यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि हमारी आत्मा, संयोग-संबंध मे बंधी हुई है। अतएव आत्मा को सर्वथा मुक्त–एकात मुक्त, कहने वालो की बात असत्य है। संयोग-सम्बन्ध मे बधे हुए होकर भी अपने-आप को मुक्त कहने वालो की बात सत्य

नही है।

जीव, सर्वथा मुक्त भी हो सकता है, पहले हुए भी है। जब मुक्त जीव भी है, जीव मुक्त भी हो सकता है, तो मुक्त होने का कोई उपाय भी अवश्य ही होना चाहिए। वह उपाय है—निर्ग्रंथ प्रवचनानुसार सम्यग् ज्ञानादि का आचरण करना। जिनेश्वर देव, निर्ग्रंथ गुरु तथा जिनागमो का अवलबन लेकर जीव, बन्धन-मुक्त हो सकता है।

शका—पर से मुक्त होने के लिए परावलम्बन लेना, यह तो उन्मार्ग है, उलटा रास्ता है। क्या कभी विष से भी अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है? परावलम्बन बन्धनकारक ही होता है, मुक्तिदाता तो स्वावलम्बन ही है। इसलिए देव, गुरु आदि 'पर' का अवलम्बन त्याग कर अपने आप मे लीन होना, अपने आपका अवलम्बन करके स्थिर—निष्कम्प हो जाना ही मोक्ष का सच्चा उपाय है। आपका बताया हुआ उपाय तो बन्धन कारक ही है। आप उसे मुक्ति का उपाय कैसे कहते हैं?

सजातीय विजातीय

एकांत निश्चयवादी पूछ रहा है कि—'पर के बन्धन से मुक्त होने के लिए पर का अवलम्बन लेने का सिद्धात असत्य है। देव गुरु और आगम भी पर है, इनके अवलम्बन से मुक्ति होने की मान्यता युक्ति-संगत नही है। इस प्रकार का कथन सम्यग् विचार युक्त नही है। यह ठीक है कि अपने से भिन्न सभी वस्तुएँ 'पर' हैं, फिर भले ही वह जड हो या चेतन, माता

पितादि हो, या देव गुरु आदि। इन सब को अपने से भिन्न मानना सत्य है, किंतु पर होते हुए भी माता-पितादि हितैषी और चोर लुटेरे व शत्रु आदि मे अन्तर है। माता-पितादि रक्षक हैं और चोर लुटेरे हत्यारे आदि भक्षक है--नाशक हैं। अतएव हेय--हानिकारक पर का त्याग करना और हितकारक का आदर करना आवश्यक है, जिसके अवलम्बन से ध्येय की प्राप्ति हो।

पर भी दो प्रकार का होता है, एक सजातीय और दूसरा विजातीय। जड, विजातीय पर है और आत्मा सजातीय। पर--विजातीय पर से स्नेह करना=पुद्‌गल की सेवा करना, पाप है और सजातीय आत्मा की सेवा करना एवं शान्ति पहुँचाना--पुण्य है। इस प्रकार 'पर' बन्ध का कारण होते हुए भी विजातीय पर की सेवा, अशुभ बन्ध का कारण है और सजातीय पर की सेवा प्रायः शुभ-बध का कारण है।

सजातीय पर के भी दो भेद है। एक प्रकार के जीव अधोगामी है, बन्धनो मे अधिकाधिक बंधते जा रहे हैं, और दूसरी प्रकार के जीव ऐसे हैं जो बन्धन-मुक्त हो चुके हैं, या हो रहे हैं। प्रथम प्रकार के जीव भी विजातीय पर की तरह अवलम्बन के योग्य नही है, किंतु दूसरी प्रकार की सजातीय आत्माएँ, पर होते हुए भी स्वोपयोगी हैं। माता-पितादि की तरह पालक हैं। इसमे से देव-कोटि के जीव तो स्वतन्त्र हो चुके हैं, और गुरु कोटि के सजातीय, स्वतन्त्रता संग्राम चला रहे हैं, इसलिए ये आदर्श हैं। इनका अवलम्बन करके हम शक्ति-सम्पन्न हो सकते हैं, और उस शक्ति से समर्थ बन कर स्वतन्त्र

हो सकते है।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए, शत्रु के शत्रु की सहायता लेनी पडती है। उसे मित्र बनना पडता है। इसी प्रकार बन्ध रूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए, बन्ध के शत्रु ऐसे सवर और निर्जरा की सहायता से युद्ध चलाना पडता है। इस युद्ध का लक्ष तो पर से सर्वथा मुक्त होने का ही है, किंतु बन्धनकारक गुलामी मे जकडने वाले—शत्रुरूप पर से मुक्त होने के लिए, मित्ररूप—बन्धन काट कर स्वतन्त्र बनाने वाले पर का सहारा लेना पडता है। यही सरल और सीधा मार्ग है।

जिन विचारो और कृत्यो से बन्धन बढते हैं, उनमे विपरीत परिणति से बन्धन कटते है—यह सामान्य सिद्धात है। पर से प्रीति करने, उसे अपनाने और उस पर आसक्त होने से बन्ध-परंपरा बढी, अब उससे उलटी परिणति से—हिंसादि पाप तथा विषय-कषायरूप पर की प्रीति—आसक्ति का त्याग करके, उनसे पृथक् होने पर बन्ध रुकता है और लगे हुए पूर्व के बन्ध टूटते है; यह समझना कठिन नही है।

एक प्रशस्त 'पर' के अवलम्बन से, अनन्त अप्रशस्त पर से सबंध छूटता है। एक दुर्दान्त महान् योद्धा की शरण में जाने से, हजारो लाखो वैरियो से रक्षा होती है। पुलिस का आश्रय लेने पर चोरो एव हत्यारो से बचा जाता है। इस प्रकार एक अरिहत देव का अवलम्वन लेने से—ध्यान करने से, उस समय ससारकेअनन्त पर का लक्ष्य छूटता है। अनन्त विजातीय एव शत्रु रूप पर से मुक्त होने के लिए, एक सजातीय मित्र-

रूप पर का आश्रय लेना हितकर ही है। जिस प्रकार माता पिता समान पालक के सहारे से, बालक सुरक्षित रह कर बडा होता है और समर्थ बन जाता है, उसी प्रकार देव गुरु और धर्मरूपी माता, पिता, ज्येष्ठ बाधवो तथा मित्रो के सहारे से पापरूपी शत्रुओ से बचता हुआ जीव, शक्तिमान बन जाता है। जब तक बालक है, तबतक उसे पालक की आवश्यकता रहती है। बडा हो जाने पर वह स्वय अपना और दूसरो का पालक-पिता बन जाता है, ठीक यही बात आत्मा के विषय मे है। जबतक वह पाप–मिथ्यात्व-अविरति आदि मे फँसा है, तबतक उनसे पृथक् होने के लिए, उसे देवादि तथा व्यवहार-धर्म रूप विरति आदि की आवश्यकता होती ही है, और इसी के सहारे से वह सप्तम गुणस्थान तक प्रगति करता है। यहाँ तक वह इतना समर्थ हो जाता है कि फिर स्वय अपूर्वकरण कर–क्षपक श्रेणी का आरोहण करके, अवशेष शत्रुओ को क्षय करता हुआ पूर्ण विजेता हो जाता है। पालक बन जाता है, जैन से जिन हो जाता है। फिर उसे किसी के अवलम्बन की आवश्यकता नही रहती।

अकेला पुरुष, अपना धन माल लेकर निर्जन वन में जा रहा है। चोरो लुटेरो और भयानक हिंसक पशुओ का भय है। ऐसी विषम परिस्थिति मे, किसी विश्वास पात्र सहायक को 'पराया' कह कर साथी नही बनाने देने वाले और अकेले को चोर डाकुओ के बीच छोडने वाले सलाहकार, किस प्रकार हितैषी अथवा समझदार हो सकते हैं? जिन्होने शत्रु और मित्र का

भेद नही जाना और सभी 'पर' को एकान्त रूप से त्याज्य बता दिया, उन्हे न तो भोजन करना चाहिए और न पानी ही पीना चाहिए। क्योकि भोजन पानी और शरीर भी 'पर' हैं। शरीर मे रहना, भोजनादि करना और इन सबसे अपने को सर्वथा भिन्न बतलाना, प्रत्यक्ष असत्य है। हम भोजन पान मे विवेक रखते हैं। विषपान और अपथ्यकारी भोजन से बचते हैं, उसको निकट ही नही आने देते। भोजन-पान के विषय मे हम हेय और उपादेय का विवेक रखते हैं। यह सब 'पर' होते हुए भी अनुकूल प्रतिकूल का विचार करके हेय एव प्रतिकूल का त्याग कर,उपादेय एवं अनुकूल को अपनाते है, उसी प्रकार आत्मोत्थान के मार्ग मे भी अनिष्ट पर को त्यागने के लिए, ईष्ट पर का अवलम्बन लेना आवश्यक है, हितकर है और समर्थ बनाने वाला है। जो 'पर' कह कर,उपकारी तत्त्वो को भी त्याज्य बतलाते हैं, उनका उत्थान संभव नही है।

परावलम्बन से पतन और उत्थान का एक सरल उदाहरण, आत्मार्थी पं. श्री उमेशमुनिजी म० ने गत (सन् १९५९) चातुर्मास मे यहाँ दिया था। वह इस प्रकार है।

मनुष्य रस्सी के सहारे ऊँडे कूएँ मे उतरता है, और ठेठ तल तक पहुंच जाता है। उसे जब ऊपर आना होता है, तब भी वह रस्सी के सहारे से ही ऊपर आता है। वह नीचे उतरता है, तब भी रस्सी के सहारे से उतरता है और ऊपर चढ़ता है तब भी रस्सी का सहारा लेता है। उस समय वह यह तर्क नही करता कि—रस्सी तो मुझे कूएँ मे ठेठ तल तक ले

आई, अब उसी का अवलम्बन क्यो लूँ? नीचे लाने वाली चीज, कभी ऊँचा भी उठा सकती है? रस्सी के अवलम्बन से मैं नीचे उतरा, अब ऊँचा चढने मे रस्सी की क्या जरूरत? इस प्रकार सोचकर यदि वह रस्सी का सहारा नही ले, तो उस पाताल कूएँ से वह बाहर नही निकल सकता। वह ऊपर उठ कर बाहर आता है, तो रस्सी के सहारे से ही। बिना पराश्रय के वह ऊपर उठने मे समर्थ नही है। यही बात प्रस्तुत विषय मे लागू होती है।

जीव अप्रशस्त पर-विजातीय पर के सहारे से पतन को प्राप्त होता है और प्रशस्त पर-सजातीय पर के सहारे से उत्थान करता है। मोह के वश होकर, अनेक प्रकार के पाप कर्म करके पतित होता है, और अप्रशस्त मोह-नीचे ले जाने वाले मोह को छोडकर प्रशस्त (ऊपर उठाने वाले) मोह-सवेग धर्म-प्रेम, देव गुरु भक्ति आदि से उत्थान कर लेता है।

जीव, जीव का सजातीय द्रव्य है, किंतु जो जीव, पुद्गलानन्दी एवं भवाभिनन्दी हैं, वे सजातीय होते हुए भी सम्यग्दृष्टि के लिए विजातीय हैं,-जड के पक्षकार हैं। इनका अवलम्बन नीचे ले जाने वाला है। सजातीय, सम्यग्दृष्टि आदि हैं। इनमें गुणाधिक देव गुरु का प्रेम, रस्सी की तरह हमारे उत्थान मे आधारभूत-अवलम्बन रूप होता है।

मोह की मस्ति से अठारह प्रकार के पाप करके जीव पतित हुआ, कूएँ के पेंदे मे पहुँच गया। नीचे उतरते समय उसकी दृष्टि भी नीची ही थी। वह अधोमुख था। अब वह

में परिणमन) से रहित वे ही जीव हैं, जो कर्म से रहित—अकर्मी हो चुके हैं, पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं, कृतकृत्य हो चुके है। जो सकर्मी है, जिनकी आत्मा पर कर्म का कचरा जमा हुआ है, वे उस अवस्था के चलते अव्यवहारी नही हो सकते। जहा कर्मों से आत्मा का संबध है, वहा व्यवहार है ही। व्यवहार की समाप्ति का उचित एव अनुकूल मार्ग है—अशुभ का त्याग और शुभ-व्यवहार का अवलम्बन। शुभ-क्रिया के अवलम्बन के मूल मे अव्यवहारीपन का ध्येय तो रहना ही चाहिए। तभी वह अव्यवहारी, स्वयभू दशा को प्राप्त कर सकता है।

जिनागमो मे भव्यात्माओ के उद्धार के लिए ऐसे ही मार्ग का प्रतिपादन किया गया है, जो साव्यवहारी से अव्यवहारी बनानेवाला है। जब सवेग सम्पन्न आत्मा, निर्ग्रंथ प्रव्रज्या स्वीकार करती है, तब वह प्रतिज्ञा करतो है कि—

'इच्चेयाइं पंचमहव्वयाइं राइभोयणवेरमण-छट्ठाइं 'अत्तहियट्ठाए' उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।"

(दशवै० ४)

अर्थात् ये पाँच महाव्रत और छठा रात्रि-भोजन त्याग व्रत मैं "आत्महितार्थ" ग्रहण करता हूँ। तात्पर्य यह कि ससार त्याग कर प्रव्रजित होने का एक मात्र ध्येय, आत्महित—आत्म-शुद्धि, आत्मशाति एव आत्म-स्थिरता है। इस दशा के प्राप्त होने पर जीव, अव्यवहारी हो जाता है।

जीव, समस्त पापाश्रवो के द्वारा आते हुए कर्मों के भार से भारी होकर संसार-समुद्र के तल मे पड़ा है। उसे सद्गुरु

के निमित्त से या नि.सर्गरुचि से यह ज्ञान हो गया कि–आश्रव के चालू रहते हुए मैं कभी हलका और सुखी नही हो सकता। निरास्रव दशा ही पूर्ण एवं शाश्वत सुख देने वाली है, किंतु यह निरास्रव अवस्था, विचार करने या मन के मनोरथ मात्र से प्राप्त नही हो सकती। इसके लिए उचित प्रयत्न तो करना ही पडेगा। तब वह जिनेश्वर भगवंतो के बताये हुए पापास्रव त्याग रूप शुद्ध व्यवहार के द्वारा उन छिद्रो को बन्द कर देता है कि जिनसे अशुभ-कर्मों की आवक होती रहती है। सराग-दशा के कारण, प्रशस्तराग के चलते, शुभ-कर्मों की आवक उसे होती रहती है, परन्तु यह तो उसकी विवशता है। क्योकि वह बिना अवलम्बन के वर्तमान अवस्था मे स्वावलम्बी नही हो सकता। इसीलिए वह प्रशस्त राग के द्वारा वीतराग भगवन्तो, गुरुदेवो और धर्म का अवलंबन, रस्सी की तरह ग्रहण करता है। जिस प्रकार कूएँ से बाहर निकलने वाले के हाथ मे रस्सी पकडी हुई होती है, परन्तु दृष्टि ऊपर किनारे की ओर होती है, वह किनारे की ओर देखता हुआ अपने हाथो और पाँवों से रस्सी के सहारे ऊपर चढता रहता है। इसी प्रकार देवादि पर का अवलम्बन लेते हुए भी उसकी दृष्टि तो पूर्ण स्वावलम्बन की ही है। वह अपने आपमे एकान्त स्थिर रहना (सिद्ध दशा) ही चाहता है। इस प्रकार के साधक का व्यवहार, शुद्ध व्यवहार है। अव्यवहारी बनाने वाला है। जिसका ध्येय आत्महित का नही है, वह शुद्ध व्यवहारी भी नही है। ऐसा जीव, अव्यवहारी नही हो सकता।

ऊपर उठना चाहता है, तो सहारा तो उसे उसी मोह रूपी रस्सी का लेना पडेगा, परतु इस समय उसकी दृष्टि नीची नही होकर ऊँची रहेगी। वह उर्ध्वमुखी होगा। उसका पाप से स्नेह नही होकर धर्म से प्रेम होगा, देव गुरु की भक्ति होगी। विषयासक्ति का स्थान अब त्यागानुवृत्ति ने ले लिया है। विषयानुराग का स्थान धर्मानुराग-सवेग रग ने लिया है। यह प्रशस्त-मोह का अवलम्बन उसे कूएँ से निकालकर उस धरातल पर ले आयगा, जहा वह पहुँचना चाहता है। फिर वह स्वावलम्बी बन जायगा। अप्रशस्त परावलम्बन से पतन हुआ था—कूएँ मे पडा था, अब प्रशस्त परावलम्बन से ऊँचा उठेगा।

लक्ष्य मे है निश्चय-स्वयभू बन जाने की दृष्टि, और आचरण मे है व्यवहार—लक्ष्य की ओर बढने की क्रिया। इन दोनो के सुमेल से ही जीव, आत्मा से परमात्मा बनता है। कूएँ मे पडा हुआ जीव, पहले बाहर निकलने का ध्येय बनाता है और फिर रस्सी पकडकर उसके सहारे से ऊपर चढने की क्रिया करता है। जब वह कूएँ के किनारे पर आ जाता है, तो रस्सी का अवलम्बन उसके लिए व्यर्थ हो जाता है। किंतु जब तक वह ध्येय से थोडा भी दूर रहता है, तब तक वह रस्सी के सहारे को छोड़ता नही है।

प्रथम गुणस्थान मे जीव, अधोमुखी होता है। यदि वह उर्ध्वमुखी होना चाहता है, तो भी मार्ग का सम्यग्ज्ञान एवं प्रतीति नही होने से वह कूएँ से बाहर नही निकल सकता और इधर उधर ही भटकता रहता है। जब उसे मार्ग का वास्तविक

ज्ञान और प्रतीति होती है, तब उसका ध्येय शुद्ध होता है और उसके बाद वह देव गुरु और धर्मरूप स्वजातीय पर का अवलम्बन लेकर स्वयं उन्नत होने का प्रयत्न करता है।

ध्येय–लक्ष्य दूर रहता है, इतना दूर कि जिसे प्राप्त करने मे समय लगता है और उन स्थितियो से होकर गुजरना पड़ता है, जो ध्याता और ध्येय के बीच मे रही हुई है। जघन्य स्थान मे रहे हुए व्यक्ति को उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करने के पूर्व सभी मध्यम स्थानो को पार करना ही पडता है। यह दूसरी बात है कि किसी को लम्बा काल लगता है, तो किसी को थोडा। यह तो सर्वथा अशक्य ही है कि बिना श्रेणी चढे कोई सीधा प्रथम गुणस्थान से चौदहवे गुणस्थान मे पहुच जाय अथवा सिद्ध हो जाय +।

लोक के अशुभ व्यवहार मे पडे हुए जीव को, अव्यवहारी होने के लिए सर्व प्रथम शुभ एव शुद्ध व्यवहार का आश्रय लेना ही पडता है, तभी वह अव्यवहारी बनता है। अशुभ-व्यवहारी से सीधा अव्यवहारी बन जाय–ऐसा कभी नही हो सकता। यह ध्रुव सिद्धात है कि–

"अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ कम्मुणा उवाही जायइ" (आचाराग १–३–१)

अर्थात् व्यवहार (अस्थिरता, ग्रहण करना, छोडना, एक स्थान से दूसरे स्थान जाना, संयोग-वियोगादि विविध भावों

+ हां, बीच में कोई जीव, कुछ स्थान लाघ सकता है, पर आगे जाकर तो उसे अप्रमत्त होकर क्षपक-श्रेणी का आरोहण करना ही पड़ेगा।

मे परिणमन) से रहित वे ही जीव हैं, जो कर्म से रहित–अकर्मी हो चुके हैं, पूर्णता को प्राप्त कर चुके है, कृतकृत्य हो चुके है। जो सकर्मी हैं, जिनकी आत्मा पर कर्म का कचरा जमा हुआ है, वे उस अवस्था के चलते अव्यवहारी नही हो सकते। जहा कर्मों से आत्मा का सबध है, वहा व्यवहार है ही। व्यवहार की समाप्ति का उचित एव अनुकूल मार्ग है–अशुभ का त्याग और शुभ-व्यवहार का अवलम्बन। शुभ-क्रिया के अवलम्बन के मूल मे अव्यवहारीपन का ध्येय तो रहना ही चाहिए। तभी वह अव्यवहारी, स्वयभू दशा को प्राप्त कर सकता है।

जिनागमो मे भव्यात्माओ के उद्धार के लिए ऐसे ही मार्ग का प्रतिपादन किया गया है, जो साव्यवहारी से अव्यवहारी बनानेवाला है। जब सवेग सम्पन्न आत्मा, निर्ग्रंथ प्रव्रज्या स्वीकार करती है, तब वह प्रतिज्ञा करती है कि–

'इच्चेयाइं पंचमहव्वयाइं राइभोयणवेरमण-छट्ठाइं 'अत्तहियट्ठाए' उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।"

(दशवै० ४)

अर्थात् ये पाँच महाव्रत और छठा रात्रि-भोजन त्याग व्रत मैं "आत्महितार्थ" ग्रहण करता हूँ। तात्पर्य यह कि ससार त्याग कर प्रव्रजित होने का एक मात्र ध्येय, आत्महित–आत्म-शुद्धि, आत्मशाति एव आत्म-स्थिरता है। इस दशा के प्राप्त होने पर जीव, अव्यवहारी हो जाता है।

जीव, समस्त पापाश्रवो के द्वारा आते हुए कर्मों के भार से भारी होकर संसार-समुद्र के तल मे पड़ा है। उसे सद्गुरु

के निमित्त से या नि सर्गरुचि से यह ज्ञान हो गया कि—आश्रव के चालू रहते हुए मैं कभी हलका और सुखी नही हो सकता। निरास्रव दशा ही पूर्ण एवं शाश्वत सुख देने वाली है, किंतु यह निरास्रव अवस्था, विचार करने या मन के मनोरथ मात्र से प्राप्त नही हो सकती। इसके लिए उचित प्रयत्न तो करना ही पडेगा। तब वह जिनेश्वर भगवंतो के बताये हुए पापास्रव त्याग रूप शुद्ध व्यवहार के द्वारा उन छिद्रो को बन्द कर देता है कि जिनसे अशुभ-कर्मों की आवक होती रहती है। सराग-दशा के कारण, प्रशस्तराग के चलते, शुभ-कर्मों की आवक उसे होती रहती है, परन्तु यह तो उसकी विवशता है। क्योकि वह बिना अवलम्बन के वर्तमान अवस्था मे स्वावलम्बी नही हो सकता। इसीलिए वह प्रशस्त राग के द्वारा वीतराग भगवन्तो, गुरुदेवो और धर्म का अवलंबन, रस्सी की तरह ग्रहण करता है। जिस प्रकार कूएँ से बाहर निकलने वाले के हाथ मे रस्सी पकडी हुई होती है, परन्तु दृष्टि ऊपर किनारे की ओर होती है, वह किनारे की ओर देखता हुआ अपने हाथो और पाँवों से रस्सी के सहारे ऊपर चढता रहता है। इसी प्रकार देवादि पर का अवलम्बन लेते हुए भी उसकी दृष्टि तो पूर्ण स्वावलम्बन की ही है। वह अपने आपमे एकान्त स्थिर रहना (सिद्ध दशा) ही चाहता है। इस प्रकार के साधक का व्यवहार, शुद्ध व्यवहार है। अव्यवहारी बनाने वाला है। जिसका ध्येय आत्महित का नही है, वह शुद्ध व्यवहारी भी नही है। ऐसा जीव, अव्यवहारी नही हो सकता।

आगमों में आत्म-लक्षी विधान

जिनागमो मे सम्यग्दृष्टि की उन्ही क्रियाओ को विरति, चारित्राचारित्र, चारित्र और निर्जरा मे मानी है, जो आत्महित की दृष्टि से युक्त हो। जहा आत्म-लक्ष छूटा, वहा वही क्रिया बन्ध मे मानी गई है, फिर भले ही वह दैविक सुखो को प्रदान करनेवाली हो। यदि आत्मदृष्टि प्राप्त नही हुई या होकर निकल गई, तो उन दैविक सुखो की समाप्ति के बाद, कालातर मे दुर्गति का कारण भी बन सकती है। इसलिए आत्मदृष्टि—आत्मा की मुक्ति के लिए, आत्मा के साथ लगे हुए जड सयोग से पृथक्, पूर्ण विशुद्ध दशा की प्राप्ति के लिये ही त्याग प्रत्याख्यान और तपादि करना चाहिए। ध्येय-लक्षी प्रवृत्ति ही निश्चय व्यवहार उभय सम्मत होती है। जिनागमो मे स्थान स्थान पर ऐसे विधान किये हैं। उन विधानो मे से कुछ यहा उपस्थित किये जाते है।

(१) आगमकार, मनुष्य के ससार त्याग कर प्रव्रजित होने का कारण निम्न शब्दो मे उपस्थित करते हैं।

"अत्तत्ताए परिव्वए"—आत्मत्त्व प्राप्ति (मुक्ति) के लिए प्रव्रजित हो। (सुय. १–३–३–७ तथा १–११–३२)

"अत्तत्ताए संवुडस्स"—आत्मत्त्व के लिये सयमी बने। (सूय. २–२)

(२) पाच महाव्रत और रात्रि-भोजन त्याग की प्रतिज्ञा लेते हुए निर्ग्रंथ, अपना उद्देश्य निम्न शब्दो मे व्यक्त कर रहा है।

"इच्चेयाइं पंचमहव्वयाइं राइभोयणवेरमण-छट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जिता णं विहरामि।"

(दशवै ४)

(३) "एगंतदीट्ठी य अमाइरूवे"—एकान्तदृष्टि—आत्मदृष्टि (आत्मशुद्धि—कर्मनाशक दृष्टि) से युक्त होकर माया से रहित हो। (सुय. १–१३–६)

(४) "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ"—जो एक आत्मा को जानता है, वह सभी जानता है।

(आचा १–३–४)

(५) "एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं, जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ।"

—भगवान् उपदेश करते हुए फरमाते हैं कि-आत्मा को अकेला जानकर शरीर को धुनक डालो। शरीर को कृश करो, जीर्ण करो। जिस प्रकार पुरानी लकडी को अग्नि जला डालती है, उसी प्रकार मुनि कर्मों को भस्म कर देता है।

(६)—"एवं अत्तसमाहिए अणिहे।"

—आत्म समाधि वाला मुनि रागद्वेष रहित होता है।

(आचा. १–४–३)

(७) धर्मोपदेश करने वाले साधु को सावधान करते हुए भगवान् फरमाते हैं कि—हे साधु! तू धर्म का उपदेश करे, तो—

"अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाइज्जा, णो परं आसाइज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाइज्जा"......

—धर्मोपदेश करते हुए अपनी आत्मा की आशातना

नही करे (उपेक्षा नही करे,—आत्म-दृष्टि को नही भूले, निर्जरा के उद्देश्य को नही छोड़े) न पर की आशातना करे, न पर प्राण-भूतादि की आशातना करे। (आचा १-६-५)

(८) संयम में सावधान मुनि, किस प्रकार विचरे,—

"एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे।"

—संयम मे सावधान मुनि, आत्मस्थित, रागद्वेष रहित, परीषहो के उपस्थित होने पर अचल, अप्रतिबद्ध-विहारी और संयम की मर्यादा से बाहर विचार नही करता हुआ विचरे। (आचा. १-६-५)

(९) "आयगुत्ते सयावीरे जाया मायाइ जावए।"

मुनि, आत्मगुप्त—आत्मा की रक्षा करता हुआ, पाप से बचाता हुआ, संयम का निर्वाह हो उतना ही आहार करे। (आचा १-३-३)

(१०) धर्म का उपदेश वही कर सकता है,—

"अत्ताणं जो जाणइ जो य लोगं......

जो अपनी आत्मा को जानता है और लोक को जानता है.... (सूय. १-१२-२०)

(११) निर्ग्रंथ वह है जो —

"एगे एगविउ, बुद्धे छिन्नसोए....आयवायपत्ते।"

—जो एक, एकविद्—आत्मा को जानने वाला ज्ञानी,

माश्रव त्यागी और आत्मवाद को प्राप्त करता है, वह निग्रंथ है।

(सूय. १-१६)

(१२) भिक्षु वह है जो-"उवट्ठिए ठिअप्पा"

-सावधान होकर आत्म-स्थित होवे। (सूय. १-१६)

"चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू"

-असंयम का त्याग कर और स्नेह रहित होकर, जो आत्मा मे स्थिर रहता है, वह भिक्षु है। (दशवै १०-१७)

"णिच्चमायगुत्ते"-सदा आत्म-गुप्त रहे।

(उत्तरा १५-३)

"आयगवेसए स भिक्खू"-जो आत्म-गवेषक है, वह भिक्षु है। (उत्तरा १५-५)

(१३) "अहम्मे अत्तपण्णहा....पावसमणे त्ति वुच्चई।"

आत्म-प्रज्ञा की हानि करने वाला अधर्मी, पाप-श्रमण है (उत्तरा. १७-१२)

(१४) "विरए आयहिए पहाणवं"-भोगो से विरत, आत्महित में तत्पर और संयम मे रहे।

(उत्तरा. २१-२१)

(१५) समाधि कब प्राप्त होती है,-

"आयट्ठीणं आयहियाणं आयजोगीणं आयपरक्कमाणं....दसचित्तसमाहि ठाणाइं असमुप्पण्णपुव्वाइं समुप्पज्जेज्जा।"

—जो आत्मस्थित, आत्महितैषी, आत्मयोगी, आत्मपराक्रमी है, उन्हे पूर्व अप्राप्त ऐसी आत्म-समाधि उत्पन्न होती है।

(दशाश्रुत ५)

(१६) आत्मा ही सामायिक, संवर, सयम, प्रत्याख्यान, विवेक, व्युत्सर्ग और इनका अर्थ है। ऐसा भगवती १-९ मे लिखा है।

(१७) संयम और तप से आत्मा को पवित्र करते हुए विचरने का उल्लेख तो अनेक आगमो मे है।

(१८) "अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं"—सुसमाधिवत मुनि को चाहिए कि सभी इन्द्रियो को वश मे रखकर, अपनी आत्मा की सतत रक्षा करता रहे। अर्थात् आत्मा को मलीन होने से बचाता रहे।

(दशवै चूलि. २-१६)

(१९) "कुज्जा अत्तसमाहिए"—आत्म समाधि में कायम रहे। (सूय. १-३-३-१९)

(२०) "तम्हा विऊ विरओ आयगुत्ते"— विद्वान् मुनि, विरत होकर आत्म गुप्त हो जाय। (सूय. १-७-२०)

(२१) "आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे"—इन्द्रियो का दमन करने वाला साधु, आत्म-गुप्त होकर आस्रव के प्रवाह को रोक देता है और निरास्रवी—संवरवान हो जाता है। (सूय -१-११-२४)

(२२) "विरए आयरक्खिए"—संसार से विरत

होकर आत्म-रक्षक होजाय। (उत्तरा. २-१५)

(२३) "**चरेज्जत्तगवेसए**"—आत्म-गवेषक होकर सयम मे विचरे। (उत्तरा. २-१७)

(२४) "**तेगिच्छं णाभिणंदिज्जा, संचिक्खत्त-गवेसए**"—आत्म-गवेषक मुनि, चिकित्सा—रोग का उपचार करने की इच्छा भी नही करे, किंतु शान्तिपूर्वक सहन करे। (उत्तरा. २-३३)

(२५) "**आयाणुरक्खी चरेऽप्पमत्तो**"— आत्म-रक्षक मुनि, अप्रमत्त होकर विचरे। (उत्तरा. ४-१०)

(२६) "**नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा**"—काम भोग और स्त्रियो से परिचय, ये आत्म-गवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष के समान है। (उत्तरा. १६-१३)

(२७) "**वीरा जे अत्तपण्णेसी**"— वीर वही है जो आत्म-प्रज्ञा को प्राप्त हैं। (सूय. १-६-३३)

(२८) "**एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा**"—मुनि एकत्व भावना करे। (सूय १-१०-१२)

(२६) "**तिविहेण वि पाण माहणे, आयहिए अणियाण संवुडे**"—प्राणियो की हिंसा नही करे और संवरवान् बनकर आत्म-हित साधे। (सूय १-२--३--२१)

(३०) कई वेशधारी, गुप्त रूपसे पाप करते हुए, दूसरों के सामने आत्मार्थीपन का ढोग करते हैं। उस ढोग के भुलावे मे आकर लोग कहते हैं कि--यह मुनि आत्मार्थी है.—"**आयय-**

दृठी अयंमुणी" (दशवै ५--२--३४)

ऐसे अनेक नमूने आगमो मे मिल सकते हैं। इससे स्पष्ट दिखाई देता है कि जैन-धर्म सम्मत संयम, तप, नियम, विरति आदि सब आत्म-शोधन की दृष्टिपूर्वक होते हैं। संवर और निर्जरा, आत्म-शुद्धि कारक तत्त्व है। इनकी सहायता से आत्मा की पूर्ण विशुद्धि होकर परमात्म-दशा प्रकट होती है जो अंतिम तत्त्व है। संवर निर्जरा की साधना से मोक्ष के ध्येय की सिद्धि होती है अर्थात् व्यवहार साधना से निश्चय साध्य सिद्ध होता है। जिनागमो के विधान, निश्चय-व्यवहार उभय संमत हैं। जिनागमो मे निश्चय के लक्ष्य के साथ व्यवहार-धर्म का आचरण करके कृतार्थ होने का उपदेश हुआ है। श्री जिन-धर्म, न तो एकात निश्चयवाद मे है और न एकात व्यवहारवाद मे। वह है निश्चय और व्यवहार उभय सम्मत सम्यग् आचरण मे।

अनादि काल से, अनन्त पर से बद्ध, संबद्ध और क्षीर-नीरवत् एकमेक हुए आत्मा का, केवल जान लेने और श्रद्धा कर लेने से ही विशुद्ध होजाना अशक्य है। स्व-पर का भेद समझ लेने—विश्वास कर लेने से ही, पर से सर्वथा सम्बन्ध नही छूट जाता। इसके लिए स्वात्म-स्थिरता अनिवार्य है और स्थिरता, बिना शुक्लध्यान के प्राप्त नही हो सकती। शुक्ल-ध्यान की प्राप्ति भी धर्मध्यान की उत्कृष्टता को प्राप्त करने वालो मे से किसी को होती है और धर्मध्यान मे परावलम्बन है ही। वह परावलम्बन, सजातीय विशुद्धतर और विशुद्धतम आत्माओ और उनके उपदेश का होता है, जो विजातीय पर

को त्याग चुके और त्यागने का उपदेश देते हैं। एक सजातीय आदर्श-पर के अवलम्बन से, अनन्त विजातीय पर से प्रीति छूट जाती है, दृष्टि हट जाती है और एक सजातीय पर के प्रति प्रशस्त प्रेम रह जाता है। इस साधना मे विजातीय-पर के प्रति निर्वेद होजाने से, `उनका पूर्व सम्बन्ध भी निर्बल, निर्बलतर और निर्बलतम होकर अन्त मे समाप्त होजाता है। सजातीय आदर्श पर के प्रति सवेग और विजातीय हेय पर के प्रति निर्वेद भावना की उत्कृष्टता मे, आत्मा इतनी बलवान हो जाती है कि वह शुक्लध्यान प्राप्त कर, समस्त पर से मुक्त होकर, पूर्ण रूप से अपने-आप मे स्थिर एव निष्कम्प दशा को प्राप्त कर लेती है।

पेट मे भरे हुए रोग को निकालने के लिये विरेचन लिया जाता है। उस विरेचन से पेट मे रुका हुआ मल निकल जाता है। पेट मे जमे हुए मैल को निकालने के लिए विरेचन लेने की आवश्यकता होती है, किंतु विरेचन को पेट मे से बाहर निकालने के लिए किसी दवाई की आवश्यकता नही रहती। वह तो अपने आप निकल जाता है—मल के साथ ही निकल जाता है। कपडे मे से मैल निकालने के लिए साबुन लगाया जाता है और वह साबुन मैल के साथ ही निकल जाता है। साबुन को निकालने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नही रहती। इसी प्रकार आत्मा मे से पाप रूपी मल निकालने के लिए, व्यवहार धर्मानुष्ठान किया जाता है। इसमे जिस सजातीय आदर्श पर का अवलम्बन लिया जाता है, वह उतना दृढ़ और सख्त नही होता कि जिससे मुक्त होने के लिए

किसी दूसरे अवलम्बन की आवश्यकता हो। उस समय आत्मा स्वयं इतनी शक्तिमान हो जाती है कि जिसके सामने इस विषय का कोई प्रश्न या बाधा ही खडी नही होती। उसकी आत्म-स्थिरता से वह शुभ अवलम्बन भी अपने आप छूट जाता है और आत्मा, परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

उपरोक्त विचारणा एवं प्रक्रिया की उपेक्षा करके जो एकात निश्चय को ही पकडकर बैठ जाते है और पर को एकात और सभी अवस्थाओ मे हेय कह कर सजातीय आदर्श अवलम्बन को (खुद अपनाते हुए भी) त्यागनीय कहते है, वे सन्मार्ग से इन्कार करते हैं।

एक ओर निश्चयवादी, शुद्ध व्यवहार धर्म का निषेध करते हैं, तो दूसरी ओर कोई लोक-व्यवहार की रुचिवाले, अशुद्ध व्यवहार=सावद्य-प्रवृत्ति को मोक्ष मार्ग बताकर जिनधर्म के प्रति अन्याय करते है। कोई आचार्य उपाध्याय पद पर रहते हुए और मोक्ष साधक का वेश धारण करते हुए भी जनसेवा के नाम पर, समाजवाद के बहाने से, या सर्वोदय की ओट से, आरंभ परिग्रहादि सावद्य परिणति वाला प्रचार करते है, वे निश्चय और व्यवहार, इन दोनो पक्षो के विघातक हैं। और जो लक्ष्य-शुद्धि के साथ, शुद्ध व्यवहार धर्म के अवलम्बन से, लक्ष की ओर बढने मे प्रयत्न शील है, वे उभय साधक होकर, स्व-पर के विवेक से युक्त है। वे सफलता की ओर अग्रसर हो रहे है।

आत्मदर्शन और सम्यग्दर्शन

प्रश्न—बिना आत्मदर्शन किये सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ?

उत्तर—आत्मा तो अरूपी है, उसका दर्शन कैसे हो सकता है ? समस्त जैन-सिद्धात आत्मा को, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय की तरह अरूपी मानता है। इसमे किसी का मतभेद नही है। जब हम धर्मास्तिकायादि को रूपी नही मानते और प्रत्यक्ष नही देख सकते, तथा रूपी पुद्गल मे रहे हुए अनन्त गुण-धर्मों का साक्षात्कार भी नही कर सकते और वट-वृक्ष के छोटे से बीज मे रही हुई विशालता के दर्शन भी नही कर पाते, तो अरूपी आत्मा के दर्शन कैसे कर सकते हैं ? यह चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन का विषय नही है। बहुत से देव भी ऐसे हैं—जो बन्ध और निर्जरा के रूपी चौफरसी पुद्गल भी नही देख सकते, तो अरूपी आत्मा को कैसे देख सकते है ? अतिन्द्रिय पदार्थ, लक्षणो से जाने जाते हैं और उनका अनुभव किया जा सकता है। लक्षणो और ज्ञान से जानकर आत्मा का अनुभव किया जा सकता है। आत्मानुभव को ही यदि 'आत्मदर्शन' कहा जाय, तो बाधा नही है।

प्रश्न—बिना आत्मज्ञान हुए व्रत, सामायिक, पौषध और संयम की साधना व्यर्थ होती है, बन्धन कारक होती है। मिथ्यात्व के सद्भाव मे कोई भी साधना सफल नही हो सकती। आप आत्मज्ञान के पूर्व ही व्रत-प्रत्याख्यान पर जोर क्यो देते हैं ?

उत्तर—आत्मा का साधारण ज्ञान तो सम्यग्दृष्टि को होता ही है। वह इतना तो जानता है कि—१ मैं आत्मा हूँ,

जड नही हूँ, २ मेरी आत्मा अनादि अपर्यवसित अर्थात् शाश्वत है ३ मैं कर्म का कर्त्ता हूँ, कर्म मेरे ही किये हुए है, ४ अपने किये हुए कर्म के फल का भोक्ता भी मैं ही हूँ। मेरी वर्त्तमान अवस्था भी कर्मों के फल स्वरूप ही है, ५ आत्मा मुक्त हो सकती है और ६ मुक्ति का उपाय भी है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप- ये आत्मा की मुक्ति के उपाय हैं।

उपरोक्त षट्पदी का साधारण ज्ञान, श्रावक और साधु को होता है। सक्षेप-रुचि से इतना ज्ञान होना असभव नही है। यदि किसी जीव को इतना भी ज्ञान नही हो और वह ज्ञानी पर विश्वास रखकर उनकी आज्ञानुसार साधना करता हो, तो वह भी आराधक होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। भगवती सूत्र श २५ उ ७ मे स्पष्ट उल्लेख है कि मति-श्रुत ज्ञानी, आठ प्रवचन माता की सामान्य जानकारी से भी श्रेणी का आरोहण करके यथाख्यात चारित्री और केवलज्ञानी हो सकता है।

हम देखते हैं कि सूझते हुए व्यक्ति के सहारे से अन्धा भी इच्छित स्थान पर पहुँच सकता है। अनजान व्यक्ति भी जानकार का साथ करके, अपरिचित स्थान को पार करता हुआ लक्षित स्थान पर पहुँच सकता है। इसी प्रकार गीतार्थ की नेश्राय मे रहा हुआ श्रद्धाशील आत्मार्थी, आराधक हो सकता है।

जिनागम मे कहा है कि 'सक्षेपरुचि सम्यक्त्व' भी होता है। ऐसा सम्यक्त्वी भी आत्मा का अस्तित्व और बंधन मुक्ति

मे श्रद्धा रखता हुआ आत्मकल्याण कर सकता है। ऐसी सक्षेप-रुचिवाले सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादृष्टि नही कह सकते।

प्रश्न–जब तक आत्मा का वास्तविक ज्ञान नही हो सकता, तब तक आत्मत्व की प्राप्ति नही हो सकती। जब आत्मत्व की ही प्राप्ति नही हो सकती, तो मुक्ति तो हो ही कैसे सकती है ? जिस वस्तु को जो जानता ही नही, वह उसे प्राप्त कैसे कर सकता है ?

उत्तर–प्रारम्भ मे ही आत्मा का अनुभव-ज्ञान, बहुत कम जीवो को होता है। अधिकतर जीव, उपदेश से ही सम्यक्त्व के समुख होते हैं। जो निसर्गरुचि वाले होते है, उनमे भी पूर्व-भव मे उपदेश द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले और ज्ञानाभ्यास किये हुए होते है। उन्ही सस्कारो से, बाद के भव मे सरलता से ज्ञान हो सकता है। अन्यथा पहले गुरु के निर्देशानुसार अभ्यास करना आवश्यक होता है। वह अभ्यास उसे आत्मा-नुभव करा सकता है।

प्रश्न–सब से पहले आत्मानुभव कराना आवश्यक है। जब तक यह नही हो जाता, तब तक सामायिक, प्रतिक्रमण, आदि पढाना व्यर्थ है। आप इस मूल वस्तु को छोडकर सब से पहले सामायिक प्रतिक्रमण क्यो पढाते हैं ? आत्मा को जाना ही नही, तो सामायिकादि जानने का क्या लाभ ?

उत्तर–गभीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम होगा कि ज्ञानाभ्यास और विरति का जो क्रम चला आ रहा है, वह उचित, हितकारी एव यथार्थ है। इसके विपरीत बाते व्यर्थ है।

किसी भी व्यक्ति को यह कहना तो सहज है कि–'तुम आत्मस्थ हो जाओ, या 'मैं आत्मस्थ हूँ", "मैने आत्मा को देख लिया, जान लिया, आत्म--दर्शन कर लिया" आदि, किन्तु येह सब वाणीविलास मात्र है। सक्रिय-साधना, आत्मस्थिरता की अमोघ विधि है। निम्न उदाहरण इस बात को स्पष्ट करेगा।

एक बच्चा पढने बैठता है। शिक्षक 'अ' या 'क' अक्षर लिखकर उसे लिखना सिखाता है और अक्षरो की पहिचान करवाता है। शिक्षक के पास मे बैठा उसका मित्र, शिक्षक को टोकते हुए कहता है;--

"मित्र! तुम इस बच्चे को व्यर्थ ही क्यो सताते हो? अरे पहले इसे यह तो बताओ कि–यह 'अ' क्या चीज है, किस काम आता है, इसके कितने रूप बनते हैं, कितने शब्द बनते है, इसका लोप किस प्रकार होता है। इस प्रकार 'अ' का स्वरूप तो बताया ही नही और सिखाने बैठ गए। इससे क्या लाभ होगा?"

मित्र की बात सुनकर शिक्षक कहता है,–

–"भाई! तुम होश मे हो क्या? पढाई का तरीका क्या है, यह सभी पढे-लिखे व्यक्ति जानते हैं। तुम और हम इसी तरह पढे है। यही विधि ठीक है। शिक्षा के द्वार मे प्रवेश करनेवाले बालक के सामने, आपके विचारानुसार बातें रख दी जाय, तो वह कुछ भी नही समझ सकेगा और प्रचलित पद्धति के अनुसार अक्षरो की पहिचान होने के बाद उसे जब शब्द

बनाना सिखाया जायगा, या प्रवेशिका-पोथी पढाई जायगी, तब वह अपने आप समझता जायगा। उसकी ज्ञ पर्याय खुलती जायगी।

आत्मा स्वयं ज्ञान का भडार है, किन्तु उसकी ज्ञान-पर्याय दबी हुई है। जब वह अक्षर परिचय आदि निमित्त से पुरुषार्थ करने लगता है और श्रवण करता है, तो उसकी ज्ञान पर्याय प्रकट होती रहती है। फिर वह पडित बनकर बड़े बड़े ग्रंथो का रचयिता हो जाता है। किन्तु आपके बताये तरीके से तो हजारो मे एकाध व्यक्ति पर भी सफलता मिलनी असंभव है।

इसी प्रकार सामायिक प्रतिक्रमणादि सिखाना भी आवश्यक है। इन्हे सीख कर फिर पृच्छा आदि से स्वरूप समझा जा सकता है और अनुप्रेक्षा से सामायिक सफल की जा सकती है। यदि पहले सामायिकादि नही पढाया जायगा, तो आगे पर उसके भाव-सामायिक प्राप्त करने का निमित्त ही कौनसा रहेगा? शास्त्र मे भी शिष्य को पहले मूलपाठ की वाचना देने का उल्लेख है। अतएव सामायिकादि सम्यक्श्रुत का अभ्यास जिस प्रकार हो रहा है, उसी प्रकार होता रहना चाहिए।

प्रश्न—आप यह तो जानते हैं कि मार्ग का अनजान व्यक्ति भटक जाता है, वह इच्छित स्थान पर नही पहुँच सकता। फिर आत्मा से अनभिज्ञ, आत्मस्वरूप का अनजान एव आत्म-दर्शन से वञ्चित व्यक्ति, किस प्रकार मुक्ति पा सकेगा?

उत्तर—अनभिज्ञ व्यक्ति को किसी योग्य व्यक्ति का

साथ मिल जाय, तब तो ठीक ही है, यदि वैसा साथ नही मिले, तो इच्छित स्थान, दिशा और मार्ग की सामान्य जानकारी भी उसे इच्छित स्थान पर पहुँचा सकती है। जैसे—

एक छोटे और देहाती गाँव का रहनेवाला व्यक्ति, बबई जाने लगा। वह पहली ही बार बबई जा रहा है। अकेला है, अनपढ है। बबई मे उसका कोई जाना पहिचाना नही। वह इतना जानता है कि सेठ रिखबदासजी की दुकान बबई मे है और रिखबदासजी का उस गाँव मे लेनदेन है। वे जब कभी आते हैं, तो खेमराज भी उनके पास जाता है। खेमराज ने सेठ से पूछा—

"आपकी दुकान बंबई मे किस जगह है ?"

—"जौहरी बाजार मे १५ नम्बर की। क्यो बबई देखना है क्या"—सेठ ने पूछा ?

—हाँ, सेठ ! मनुष्य जन्म पाया, तो बंबई तो देख लूँ। अब फुरसद के दिन हैं। दो चार दिन ठहरूँगा। ठहरने को जगह चाहिए, बस"—खेमराज ने कहा।

"हाँ, अपनी दुकान है, वही ठहरना और खाना पीना भी वही। जब जाओ तब मेरी चिट्ठी ले जाना, सो तुम्हे तकलीफ नही पडेगी"—सेठ ने कहा।

खेमराज, सेठ की चिट्ठी लिये बिना ही चला गया। उसने सोचा—'निवास के लिए कोई स्थान चाहिए। खाना पीना तो मैं अपने पैसे से कर ही लूगा।"

वह रेल्वे स्टेशन पहुँचा। बंबई की ओर जानेवाली

गाडी मे बैठा । गाडी कहाँ बदलती है, बबई कब पहुँचती है, यह सब उसने स्टेशन पर पूछकर जान लिया और सूझबूझ से इच्छित स्थान पर पहुँच गया ।

सोचने की बात है कि खेमराज ने कभी बंबई देखी ही नही थी, न वह किसी जानकार के साथ गया था, फिर भी मार्ग की थोडी-सी जानकारी लेकर ठीक बंबई पहुँच गया । इस सारे लोक की समस्त दिशा विदिशाओ और ग्रामो, नगरो को छोडकर बम्बई और जौहरी बाजार मे रही हुई सेठ रिखबदासजी की दुकान पर पहुँच गया । इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य, किसी निमित्त से इतना जान ले कि--विरति का साधन, मोक्ष (आत्मत्व) प्राप्ति का अमोघ मार्ग है, जो विरत होता है, वह सफल हो सकता है। जैसे कि किसी व्यक्ति ने पहले देशविरत होकर, अपनी आश्रव की प्रवृत्ति को संकुचित कर ली । असंख्य योजन के विस्तृत क्षेत्र मे भटकती हुई चित्तवृत्ति को सौ-पचास योजन मे सिमित करके, अपनी प्रवृत्तियो का सवरण कर लिया । अब उसकी आशा, तृष्णा, राग, द्वेष, काम आदि का स्थान असंख्यात योजन से घट कर थोडे-से योजनो मे आ गया । समस्त लोक मे आश्रव के अश्व पर सवार होकर भटकती हुई आत्मा के विचरण का केन्द्र, बहुत सीमित होगया और परिणति की तीव्रता मे मन्दता आ गई । थोड़े दिन बाद वह प्रतिमाधारी श्रावक हुआ । अब उसकी प्रवृत्ति का क्षेत्र एक योजन से भी कम हो गया । अब उसकी आत्मा की प्रवृत्ति बहुत कम क्षेत्र मे रह गई । पहले असंख्यात योजन मे भटकती

थी, तब अशात भी बहुत रहती थी, किंतु अब अशाति मे बहुत कमी आगई और शाति तथा स्थिरता मे वृद्धि होगई। इससे अशुभ कर्म-बन्धन की मात्रा और रस मे भी बहुत कमी आगई।

इसके बाद वह प्रव्रजित होगया। अब उसकी आत्मा अधिक स्थिर होगई। उसकी प्रवृत्ति का—अविरति का पक्ष तो हट गया और प्रमाद की अनादि से चली आई आदत है, वह भी छूटती जा रही है। जब सारा प्रमाद हट जाता है, तो आत्मा मे अधिकाधिक निर्मलता, स्थिरता और शाति आती जाती है। अंत मे अयोगी अवस्था प्राप्त कर वह अपने आप मे ही लीन, स्थिर, परम शात और परमानन्दी हो जाता है।

वह व्यक्ति, पहले यह नही जानता था कि मेरा आत्मा कैसा है, उसका स्वभाव कैसा है, वह कितने गुणो का धारक है और उसका साक्षात्कार होता है या नही। वह इतना भर जानता था कि मै कर्मबद्ध आत्मा हूँ और विरति के साधन से शुद्ध होकर मुक्त—परमात्मा हो सकता हूँ। इसी विचार से उसने विरति का मार्ग अपनाया और आगे बढते-बढते सिद्ध होगया। अतएव आत्मदर्शन के बिना विरति आदि को व्यर्थ कहना मिथ्या है।

प्रश्न—आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्ति तो मिथ्यादृष्टि होता है, तो क्या आप मिथ्यादृष्टि की भी मुक्ति मानते हैं ?

उत्तर—पहले बताया जा चुका है कि संक्षेप-रुचि वाला व्यक्ति, आत्म-स्वरूप से अनभिज्ञ होते हुए भी यह जानता है

कि--"मैं आत्मा हूं। मेरी कर्मबद्ध दशा ही से जन्म-मरणादि है और विरति–सवर का साधन मुझे परमात्म पद पर प्रतिष्ठित कर देगा।" इतना विश्वास होने पर वह मिथ्यादृष्टि नही माना जाता।

एक बात यह भी है कि सम्यग्दृष्टि जीवो की विचारणा मे भी भेद हो सकता है। जैसे–उदकपेढालपुत्र और गणधर भगवान् गौतम स्वामीजी म० (सूय. २–७) गागेय अनगार और भगवान् महावीर प्रभु (भगवती ६–३२)। उद्कपेढालपुत्र अनगार की प्रत्याख्यान के विषय मे शंका थी और गागेय अनगार, भगवान् महावीर देव को अरिहत कोटि मे–देवपद मे, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नही मानते थे। फिर भी वे मिथ्यात्वी नही थे, क्योकि उनकी निर्ग्रन्थ-धर्म, सम्यक्त्व, विरति, त्याग, प्रत्याख्यान एव देव-तत्त्व मे श्रद्धा थी। किसी भी तत्त्व के प्रति उनका अविश्वास नही था। एक को केवल प्रत्याख्यान के शब्दो के विषय मे सन्देह था और दूसरे को भगवान् महावीर की व्यक्तिगत पूर्णता मे सन्देह था। इस सन्देह को वे निवारण करना चाहते थे। उनकी आत्मा मे दुराग्रह नही था। समझाने पर वे समझ गए और अपना पक्ष भी छोड दिया। आचाराग 'सूत्र अ ५ उ. ५ मे लिखा है कि–सम्यग्दृष्टि जीव, ज्ञानावरणीय के उदय से किसी असम्यक् वस्तु को भी सहज-भाव से सम्यक् मानले, तो भी वह उसके श्रद्धाबल के कारण सम्यक्-रूप से परिणमती है। तात्पर्य यह कि जिनधर्म–मोक्षमार्ग मे दृढ आस्था रखनेवाले व्यक्ति मे कभी कोई अन्यथा धारणा हो जाय और

वह यह सोचले कि–'जैनधर्म ऐसा ही मानता है, तो यह उसकी भूल होते हुए भी मिथ्यात्व नही है। यदि वह प्रसग प्राप्त होने पर भी भूल नही सुधारे और उसे जान-बूझकर आग्रहपूर्वक पकड़े रहे, तो वह मिथ्यात्वी हो जाता है।

इस पर से यह समझना चाहिए कि आत्मा का परिपूर्ण ज्ञान नही होते हुए भी सर्वज्ञ के कथन पर श्रद्धा रखनेवाला सम्यग्दृष्टि है, और वह ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करके सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन सकता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि जबतक छद्मस्थता है, तबतक सभी सम्यग्दृष्टियो का, सभी विषयो मे, एक मन्तव्य नही होता। कई बाते ऐसी है जो 'केवलीगम्य' होती है। आगमो मे भी जिनका खुलासा नही मिलता–ऐसे विषयो मे अनचाहे भी गलत धारणा हो सकती है। यह बात १२ वे गुण-स्थान तक, मन और वचन के आठो योग होने की मान्यता से भी सिद्ध हो रही है। इस पर से यह समझना सहज है कि ऊपर के गुणस्थानवाला भी कुछ बाते असत्य सोच सकता है, बोल सकता है, किंतु भावो की प्रशस्तता एवं सम्यक्त्व गुण की प्रकृष्टता से वह मिथ्यात्व के पाप से वञ्चित रह जाता है। (किंतु जो जानबूझ कर शास्त्रो की अवहेलना करता है, वह तो मिथ्यात्वी है।) यह तो हुई सम्यक्त्व की बात।

अब मिथ्यात्वी के विषय मे विचार किया जाता है। यो तो मिथ्यात्व का विष, आत्मगुणो का घातक, आत्मोत्थान का मारक और अनन्त-संसार वर्द्धक है। किंतु कुछ ऐसे जीव

भी हो सकते हैं. जो मिथ्यात्व के विष को कम करते हुए आत्मा की मलिन-पर्यायें नष्ट करते रहते हैं। इससे यथाप्रवृत्तिकरण में आकर, अपूर्वकरण करके सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं। कई आत्माएँ ऐसी भी होती हैं जो जीवनभर मिथ्यात्व मे रही, मिथ्या साधना करती रही, किंतु जीवन के अंतिम सिरे पर पहुँचकर, एक साथ सम्यक्त्व, विरति एव अप्रमत्तता प्राप्त कर, क्षपकश्रेणी पर चढगई और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर मुक्त हो गई। भगवती सूत्र श ९ उ ३१ मे उन 'असोच्चाकेवली' का वर्णन है, जो जीवनभर मिथ्यात्वी रहे, सम्यग्धर्म से वचित रहे और जो साधना करते रहे, वह भी अज्ञानपूर्ण। किंतु उनमे एक गुण ठीक था। उनकी कषाय मन्द–प्रशात थी। वे हठाग्रह से दूर थे। कषायो के उपशात रहने से और अकामनिर्जरा बढ़ने से उन्हे विभगज्ञान प्राप्त हो गया। उस विभगज्ञान के द्वारा जब उन्होने आर्हत् धर्म का परिचय पाया, तो उनकी आत्मा स्वय सत्यासत्य को समझ गई। उन्होने उसी समय असत्य का त्याग कर सत्य स्वीकार कर लिया। अब उनका मिथ्यात्व, मिथ्या-चारित्र और अज्ञान-कष्ट, सब नष्ट होकर साधना सम्यग्रूप मे परिणत हो गई। वे अप्रमत-संयत बन गये और तत्काल श्रेणी का आरोहण कर सिद्ध बन गए।

सोचना चाहिए कि जो व्यक्ति अन्तर्मुहूर्त पहले मिथ्यात्वी था, वह एकदम सम्यक्त्वी, अप्रमत्त एव बढते बढते सिद्ध कैसे होगया ? उसने मिथ्यात्व अवस्था मे ही–अनजान मे ही मिथ्यात्व क्षय करने का यत्न किया था। वह यह नही समझता

था कि मुझ मे मिथ्यात्व है। वह अपने आपको सम्यक्त्वी; सत्पथगामी एव शुद्धाचारी ही मानता था और तदनुसार उग्र साधना करता था। उसमे चारित्र की साधना होते हुए भी अकाम-निर्जरा एव शुभ-बन्ध युक्त थी। फिर भी उसकी कषाये शान्त, प्रशस्त एवं विशुद्धिकारक थी। जिस प्रकार चिडिया के बच्चे की आँखे खुलते ही वह दृश्य-जगत् को देखता है, उसी तरह उन्हे विभंगज्ञान से, वे आँखे मिली कि जिनसे सत्य को पहिचानने मे देर नही लगी। यो तो विभगज्ञान, असख्य देवो और नारको को भी होता है और मनुष्य-तिर्यंचो को भी, किंतु जिनकी कषाये शात हो, जा सत्यार्थि हो, उसे ही अनायास, निधान की तरह धर्म की प्राप्ति हो जाती है। अतएव ससार के प्रति निर्वेद, धर्म के प्रति सवेग, पापो की विरति और कषायो की उपशाति होने से आत्मोत्थान होता रहता है। यह दशा ऊर्ध्व मुखी हो, तो मिथ्यादृष्टि भव्य, सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। भले ही उसे आत्मा के विषय मे विशेष जानकारी नही हो और निश्चयवादी उसे मिथ्यादृष्टि मानते रहे।

एकात निश्चयवादी, जिसे सम्यक्त्व कहते हैं और आत्मा को कर्म-बध से सर्वथा रहित मानते हैं, वह तो नाटक के इन्द्र की तरह है। जिस प्रकार इन्द्र का स्वाग सजने मात्र से वह देवाधिपति नही बन सकता। वह पैसे के लिए स्वाग सजनेवाला सेवक-नौकर ही रहता है, उसी प्रकार कर्मबद्ध, शरीर एवं आधि व्याधि और उपाधि मे जकडा हुआ, आहार संज्ञा से ग्रसित, तेजस शरीर रूपी भट्टी की पूर्ति के लिए, भोजन पानी

लेकर तृप्ति माननेवाला और भूख प्यास से अकुलानेवाला तथा, रोगातक से दुखी हो, औषधी चाहनेवाला भी अपने को अबंधक निर्लिप्त, अशरीरी, अयोगी एवं अनाहारी आदि कहे, तो इस प्रत्यक्ष असत्य को कौन सुज्ञ मानेगा ? एकातवादियो का खुद का उदाहरण ही उन्हे विषम स्थिति मे डाल रहा है।

हॉ, तो पापो से उपरत होने और कषायो को उपशात रखने से भव्य जीव, मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी, चारित्री, अप्रमत्त एव क्रमशः अकर्मी हो सकता है।

केवलज्ञान के समान

सम्यक्त्व के प्रभाव शक्ति और परिणाम का विचार करते ज्ञात होता है कि यह महान् निधि है। जीव की वह दशा है कि जिससे वह अनन्त अन्धकार से निकल कर प्रकाश मे आ जाता है। यह केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान है। सम्यक्त्व, केवलज्ञान की माता के समान है। इसकी प्राप्ति सर्व सुलभ नही है। संसार मे इसके पात्र जीव थोडे ही होते है। जब तीर्थंकर, गणधर, पूर्वधर, मन पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, जैसे महान् प्रभावशाली निमित्त होते है, उस समय सम्यक्त्व की प्राप्ति भी कुछ सुलभ हो जाती है, किंतु इस समय वैसे उत्तम निमित्तो का तो अभाव ही हो गया है। इस समय उन महान् पूर्वजो के वशज मुनिवरो और उनकी परम पावनी वाणी का ही आधार है। इसी के अवलम्बन से जीव, यथार्थ-दृष्टि प्राप्त कर सकता है।

लेकिन परिस्थिति मे परिवर्त्तन बहुत हो गया है। उस समय निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थ-धर्म का प्रभाव अधिक था। उस उत्कृष्ट प्रभाव के आगे मिथ्यात्व का प्रभाव दब गया था, कुछ हलका होगया था। साख्यदर्शनी परिव्राजकाचार्य शुकदेव जैसे अनेक अन्यतीर्थी आचार्य, यथार्थ-दृष्टि प्राप्त कर एक बडे परिवार के साथ निर्ग्रन्थ-धर्म को स्वीकार कर चुके थे। अनेक राजा महाराजा और चक्रवर्ती नरेन्द्र, निर्ग्रंथ-प्रवचन के आराधक थे। जहा केवलज्ञानी वीतराग भगवत जैसे परमात्मा हो और महाराजाधिराज जैसे श्रमणोपासक हो, उस समय की अनुकूलता का तो कहना ही क्या। अंग्रेजो के हाथ मे राज्यसत्ता रही, तो करोडो भारतीय इसाई हो गये। इस प्रकार की अनुकूलता निर्ग्रंथ-धर्म के लिए थी। वह समय इसके उदयकाल का था।

यद्यपि उस समय वीतराग भगवंत और उत्तम अनगार भगवंतो का योग था और नरेन्द्र यावत् इभ्य-सेठ जैसे महान् ऋद्धिशाली श्रमणोपासक थे। उस समय भी धर्म प्रचार किया जाता था, तथापि निर्ग्रंथ अनगारो मे, राजाओ, अधिकारियो और जनता को आकर्षित करने की लालसा, अपना मत फैलाने की तालावेली और संख्याबल बढाने की चिन्ता नही थी। वे अपनी आत्म-साधना मे लीन रहते थे। कोई चलाकर उनके पास आता, तो उसे निर्ग्रंथ-धर्म का उचित शब्दो मे उपदेश करते, अन्यथा अपने स्वाध्याय ध्यानादि मे लगे रहते थे। यदि कभी कोई ऐसा उत्तम पात्र उनकी दृष्टि मे चढ़ता, तो कोई आचार्य स्वाभाविक रूप से, श्री केशीकुमार श्रमण की तरह उसे सबो-

धित करने जाते थे–वह भी परमार्थ बुद्धि से । उनके मन मे मान-प्रतिष्ठा पाने की इच्छा लेश-मात्र भी नही रहती थी । वे उस विशेष व्यक्ति की गरज करने वाले नही थे । स्वाभाविक और अपने आपमे विश्वस्त रहते हुए वे उपदेश देते और फिर निरपेक्ष हो जाते । उनके उन परिमित शब्दो का प्रभाव भी अपूर्व होता था । वे शब्द, ऐसी पवित्र एवं बलवान आत्मा के होते थे कि जिनका प्रभाव, योग्य आत्मा पर अवश्य होता था । ऐसे उत्तम निग्रंथो और प्रभावशाली, योग्य उपासको के योग से निर्ग्रंथ-प्रवचन का प्रभाव, विशेष रूप से फैला था । ऐसे समय योग्य पात्र के लिए पूरी अनुकूलता थी । यदि किसी का उपादान–आत्म-योग्यता कुछ निर्बल होती, तो उस बलवान निमित्त का योग पाकर निर्बलता दूर हो जाती और वह व्यक्ति मोक्षमार्ग का पथिक हो जाता । उस समय सम्यक्त्व तो ठीक, परन्तु केवलज्ञान प्राप्त करना भी दु साध्य नही था । आज लौकिक विद्या मे एकाध विषय को लेकर स्नातक बननेवाले विद्यार्थी को भी साधारणतया १०, १५ वर्ष लगजाते हैं, किंतु उस समय लोकोत्तर स्नातक–आत्मस्नातक–समस्त विषयो के सम्पूर्ण रूप से ज्ञाता=सर्वज्ञ बनने मे यथा परिणति समय लगता । हमने पर्युषण पर्व मे सुना कि महात्मा सुदर्शन और पूर्णभद्र, केवल पाच वर्ष की साधना मे ही पूर्ण स्नातक बन गये और अर्जुन अनगार तो केवल छ महीने मे ही स्नातक बनकर सिद्ध भगवान् होगए । यह थी उस समय की परिस्थिति । यह था उस समय का उत्तम योग । तब केवल ज्ञान प्राप्त करना

साधको के लिए असंभव नही था। दु शक्य था, फिर भी दृढ निश्चयी एवं निष्ठापूर्वक साधना करनेवाले साधक के लिए वह स्वाभाविक था। किन्तु आज ?

आज तो सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ बन गई है। आज वैसे उत्तम निमित्तो का तो अभाव है ही, परन्तु इस समय के योग्य श्रुतधर भी बहुत थोड़े रह गये हैं। उन थोडो के मार्ग मे भी बहुत बडी बाधा खडी होगई है। एक ओर सैकडो दिखाई देनेवाले निग्रंथो मे इने-गिने ही निर्ग्रंथ-प्रवचन का उपदेश करने वाले है, दूसरे बहुत से तो उनके प्रभाव को नष्ट करके सग्रथ-पथ के प्रदर्शक बन चुके है। कई राष्ट्र-नेताओ, लौकिक विद्या के स्नातको, एव भौतिक वैज्ञानिको के प्रभाव से प्रभावित होगये है, और उनसे संमान प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के प्रपञ्च करते हैं। कोई लौकिकवाद के ही प्रचारक बन बैठे है। निग्रंथो के वेश मे, निग्रंथ-प्रवचन के नाम पर, जो लौकिक मार्ग का—संसार मार्ग का=उन्मार्ग का प्रचार करे, वहा सम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ कैसे हो सकती है ?

अत्यन्त खेद का विषय है कि एक बहुरूपिया भी अपने रूप-वेश के महत्व को कायम रखता है। वह राजा के वेश मे रहकर दान या बख्शीश नही लेता, किंतु भगवान् महावीर के निग्रंथ का वेश पहिने हुए कई लोग, उनकी कायम की हुई मर्यादा का खुले रूप मे भंग करते हुए, उनके सिद्धात के विरुद्ध बोलते और लिखते हुए तथा मिथ्यात्व का प्रचार करते नही शरमाते। ऐसे लोग, कई भोले-भाले उपासको को सम्यक्त्व के नाम पर

मिथ्यात्व पकडा देते हैं और कई जीवो के सम्यक्त्व-रत्न को लूट लेते हैं। कितनी विषम स्थिति है—यह! जब संयती के रूप मे असयती पूजे जाते हो, निर्ग्रंथ के वेश मे सग्रन्थ का जाल फैल रहा हो, और असली के नाम से नकली चलते हो, तब सम्यक्त्व कितनी दुर्लभ हो जाती है ? शास्त्रकार "सद्धा परम-दुल्लहा" कहकर सम्यक्त्व की महान् दुर्लभ्यता बताते है। यह यथार्थ है। अनादिकाल से जीव, मिथ्यात्व मे ही गोते लगाता रहा और सम्यक्त्व प्राप्ति के अभाव में उसका भावी अनन्त भव भ्रमण भी कायम रहा। यह सम्यक्त्व-रत्न उस अनन्त भव-भ्रमण की जड को काट कर फेक देता है। अनन्तानुबन्धी आदि का उच्छेद अथवा उपशम क्षयोपशम हो, तभी सम्यक्त्व की प्राप्ति संभव होती है। इस प्रकार इसकी दुर्लभता अपने आप सिद्ध है। जब सम्यक्त्व रत्न के पुरस्कर्त्ता महर्षियो के समय भी यह दुर्लभ थी, तो आज के विषम जमाने मे (—जब कि इसके बाधक कारण विशेष रूप से बढ गये है) इसकी प्राप्ति असभवसी कही जाय तो अतिशयोक्ति नही है।

जितना दुर्लभ उस जमाने मे केवलज्ञान नही था, उतना दुर्लभ आज सम्यग्दर्शन हो गया। केवलज्ञान पर डाका नही पड सकता—लूट नही चलती, क्योकि वह परिपूर्ण है, परन्तु सम्यक्त्व-रत्न की लूट तो हो सकती है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वापिस जा सकती है। अभी तो सम्यक्त्वी कहे जाने वालो के द्वारा ही विशेष रूप से लूट हो रही है। ऐसे विकट समय मे सम्यक्त्व की प्राप्ति, केवलज्ञान के बराबर दुर्लभ मानी जाय तो

क्या बाधा हो सकती है ? आज के मिथ्यात्व प्रधान युग मे यदि कोई व्यक्ति यथार्थ-दृष्टि प्राप्त कर सके और प्राप्त सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सके, तो यह उसकी महान् सफलता—केवलज्ञान प्राप्ति के समान मानी जानी चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्व, केवल-ज्ञान के मूल के समान है—बीज के सदृश है। यह प्राप्त हुई और कायम रही, तो विरति का अंकुर उत्पन्न होगा और उसमे अप्रमत्तता का पुष्प और वीतरागता सर्वज्ञता का फल प्राप्त हो सकेगा। बीज की प्राप्ति को फल की प्राप्ति के समान मानना, नई बात नही है।

पाठक समझ गए होगे कि सम्यक्त्व कितनी दुर्लभ है। इस समय केवलज्ञान तो अलभ्य है ही। उस उदयकाल मे केवल-ज्ञान जितना दुर्लभ नहीं था, उतनी दुर्लभ आज सम्यक्त्व हो गई है। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य, आज से ९०० वर्ष पूर्व कह गए हैं कि— '**इस समय सम्यक्त्व की प्राप्ति केवलज्ञान के समान माननी चाहिए।**' आज का जमाना उससे भी अधिक हीन हो रहा है। इसलिए निर्ग्रंथ-प्रवचन के रसिको को सम्य-क्त्व रूपी महान् रत्न को सुरक्षित रखने की पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

इस अनमोल रत्न की रक्षा करो

यह सम्यग्दर्शन ऐसा अनमोल रत्न है कि इसके धारक की सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती है। यह चिंतामणि-रत्न से भी अधिक मूल्यवान् है। चिंतामणि रत्न, भौतिक वस्तु देता है,

किंतु सम्यक्त्व-रत्न तो आत्मा को अखण्ड सुख देता है--मोक्ष प्रदान करता है। ऐसे विश्वोत्तम अनमोल रत्न की बड़ी सावधानी से रक्षा करनी चाहिये। मूल्यवान् वस्तु को लूटने वाले भी बहुत होते हैं, तदनुसार इस महानिधि पर डाका डालने वाले--डाकू अनेकानेक हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहनीय कर्म का उदय, इसका मूल कारण है और बाह्य निमित्त कई मिल जाते हैं। कुप्रवचन, संसार मार्ग, मध्यम मार्ग आदि और इनके साथ रहा कुतर्क-जाल, भोले-भाले सम्यग्दृष्टियो को अपने चक्कर मे फँसाकर, उनकी इस महानिधि को लूटकर दरीद्री बना देते है। "सर्वधर्म समभाव" और ऐमी कई मोहक विचारणाओं ने लाखो जैनियो के पास से इस रत्न को लूट लिया। हमे इन मोहक एवं आकर्षक जालो से बचते रहना चाहिये और परम-मान्य जिनागमो के बताये हुए मुक्ति-मार्ग पर दृढ श्रद्धा रखकर, इस अनमोल रत्न की रक्षा करनी चाहिए।



सम्यक्त्व महिमा

शास्त्रकारो ने सम्यक्त्व की महिमा बतलाते हुए बहुत कुछ कहा है। उनमे से कुछ नमूने यहा दिये जाते है।

सघ रूपी सुमेरु पर्वत की स्तुति करते हुए नन्दीसूत्र-कार, सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हैं,—

"सम्मद्दंसणवर-वइर-दढ-रूढ़-गाढावगाढ-पेढस्स।
धम्मवर-रयण-मंडिय, चामीयर-मेहलागस्स॥ १२॥"

अर्थात्—सघरूपी सुमेरु पर्वत की, सम्यग्दर्शन रूपी उच्चकोटि के वज्र की सुदृढ और बहुत ही गहरी भू-पीठिका (आधार-शिला) है, जिस पर श्रुत-चारित्र रूपी उत्तम धर्म की मेखला स्थिर रही हुई है।

उपरोक्त गाथा मे सूत्रकार भगवंत ने सम्यग्दर्शन को जिनधर्म रूपी मेरु पर्वत की आधार-शिला बतलाई है, जिस पर समस्त सघ एवं धर्म रहा हुआ है। बिना सम्यग्दर्शन रूपी आधारशिला के न तो धर्म रह सकता है और न सघ ही। तात्पर्य यह कि धर्म और संघ का आधार ही सम्यग्दर्शन—सम्यक्त्व है।

इसके पूर्व संघ को चन्द्रमा की उपमा देते हुए गाथा ९ के उत्तरार्द्ध मे बतलाया कि—

"जय संघ-चंद! निम्मल-सम्मत्त-विसुद्ध-जोण्हागा।"

हे निर्मल सम्यक्त्वरूपी विशुद्ध ज्योत्सना (चाँदनी) वाले संघरूपी चन्द्रमा! तुम्हारी जय हो, तुम जयवंत हो।

चांद का प्रकाश ही चाँदनी है। यदि चाँद मे चाँदनी

नही हो, तो उद्योत हो ही कैसे ? उसकी उपयोगिता ही क्या ? इसी प्रकार धर्म और सघ की उपयोगिता, सम्यक्त्व के साथ ही है। बिना सम्यक्त्व के सघ भी निरुपयोगी–व्यर्थ रह जाता है।

भगवान् ने फरमाया है कि "सद्धा परम दुल्लहा"– श्रद्धा की प्राप्ति परम दुर्लभ है (उत्तरा. ३–९)

श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ २८ गा. ३० इस प्रकार है;–

णा दंसणिस्स णाणं, णाणेण विणा णहुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं॥
(उत्तरा. २८–३०)

–दर्शन के बिना ज्ञान नही होता और जिसमे ज्ञान नही, उसमे चारित्र गुण नही होता। ऐसे गुण-हीन पुरुष की मुक्ति नही होती और बिना मुक्ति के शाश्वत सुख की प्राप्ति भी नही होती।

इसके पूर्व कहा कि–"**णत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं**"–सम्यक्त्व के विना चारित्र नही होता।

प्रज्ञापना सूत्र के २२ वे पद मे लिखा कि–

"**जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया णियमा कज्जइ**"।

अर्थात्–जिसको मिथ्यादर्शन प्रत्ययिक क्रिया लगती है, उसे अप्रत्याख्यान क्रिया अवश्य लगती है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे की हुई क्रिया, सम्यक् चारित्र रूप नही होती।

श्री सूयगडाग सूत्र अ ८ मे कहा है कि–

जे या बुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥२३॥

—जो व्यक्ति महान् भाग्यशाली और जगत् मे प्रशसनीय है, जिसकी वीरता की धाक जमी हुई है, किंतु वह धर्म के रहस्य को नही जानता है और सम्यग्दृष्टि से रहित है, तो उसका किया हुआ सभी पराक्रम—दान, तप आदि अशुद्ध है—कर्म-बंध का ही कारण है । और जो बुद्धिशाली भाग्यवान् सम्यग्दर्शन से युक्त है, उसके व्रतादि सब शुद्ध है ।

सम्यक्त्व का गुणगान करते हुए 'नवतत्त्व प्रकरण' मे लिखा है कि—

जीवाइनवपयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं ।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणेवि सम्मत्तं ॥ २६ ॥
सव्वाइ जिणेसरभासिआइं, वयणाइं नन्नहा हुंति ।
इअ बुद्धि जस्स मणे, सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥२७॥
अंतो मुहुत्तमित्तंपि, फासियं हुज्ज जेहिं समत्तं ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो ॥ २८ ॥

—जो जीवादि नव पदार्थों को जानता है, उसे सम्यक्त्व होता है। यदि क्षयोपशम की मन्दता से कोई यथार्थ रूप से नहीं जानता, तो भी "भगवान् का कथन सत्य है"—इस प्रकार भाव

से श्रद्धान करता है तो भी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है (यही बात आचाराग श्रु० १ अ० ५ उ० ५ मे लिखी है)।।१।।

भगवान् जिनेश्वर के कहे हुए सभी वचन सत्य हैं, वे कभी भी असत्य नही होते–ऐसी निश्चल बुद्धि जिसमे है, उसकी सम्यक्त्व दृढ होती है। ।।२।।

जिसने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, उसे कुछ न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्त्तन से अधिक संसार परिभ्रमण नही होता। इतने काल मे वह मोक्ष पा ही लेता है। ।।३।।

'सम्यक्त्वकौमुदी' में सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए लिखा कि–

सम्यक्त्वरत्नान्नपरं हि रत्नं,
सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्व बंधोर्न परो हि बंधुः,
सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः ।।

–संसार मे ऐसा कोई रत्न नही जो सम्यक्त्व रत्न से बढकर मूल्यवान हो। सम्यक्त्व मित्र से बढकर, कोई मित्र नही हो सकता, न बंधु ही हो सकता और सम्यक्त्व लाभ से बढकर संसार में अन्य कोई लाभ हो ही नही सकता।

श्लाघ्यं हि चरणज्ञान–वियुक्तमपि दर्शनम्।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते ।।

ज्ञान और चारित्र से रहित होने पर भी सम्यग्दर्शन प्रशंसा के योग्य है, किंतु मिथ्यात्व विष से दूषित होने पर ज्ञान

ओर चारित्र प्रशसित नही होते।

एक आचार्य ने सम्यक्त्व का महत्व बताते हुए लिखा कि–

असमसुखनिधानं, धाम संविग्नतायाः,
भवसुखविमुखत्वो,–द्दीपने सद्विवेकः।
नरनरकपशुत्वो–च्छेदहेतुर्नराणाम्,
शिवसुखतरु बीजं, शुद्ध सम्यक्त्व लाभः ॥

–शुद्ध सम्यक्त्व, अतुल सुख का निधान है। वैराग्य का धाम है। संसार के क्षण-भगुर ओर नाशवान सुखो की असारता समझने के लिए सद्विवेक रूप है। भव्य जीवो के नरक, तिर्यंच ओर मनुष्य सबधी दु खो का नाश करने वाला है ओर शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति ही मोक्ष-सुख-रूप महावृक्ष के बीज के समान है।

दिगम्बर आचार्य श्री शुभचन्द्रजी ने ज्ञानार्णव मे कहा है कि–

सद्दर्शनमहारत्नं, विश्वलोकैकभूषणम्।
मुक्तिपर्यन्त कल्याण, दानदक्षं प्रकीर्तितम् ॥

सम्यग्दर्शन, सभी रत्नो मे महान् रत्न है, समस्त लोक का भूषण है ओर आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण-मंगल देने वाला चतुर दाता है।

चरणज्ञानयोर्बीजं, यमप्रशमजीवितम्।
तपः श्रुताद्यधिष्ठानं, सद्भिःसद्दर्शनं मतम् ॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान ओर चारित्र का बीज है। व्रत महा-

व्रत और उपशम के लिए जीवन स्वरूप है। तप और स्वाध्याय का यह आश्रय दाता है। इस प्रकार जितने भी शम, दम, व्रत, तप आदि होते हैं, उन सब को यह सफल करने वाला है।

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं, चरणज्ञानविच्युतम् ।
न पुनः संयमज्ञाने, मिथ्यात्व विषदूषिते ।।

ज्ञान और चारित्र के नही होने पर भी अकेला सम्यग्-दर्शन प्रशसनीय होता है। इसके अभाव मे संयम और ज्ञान, मिथ्यात्व रूपी विष से दूषित होते है।

सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-
मुरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम् ।
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्
किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम् ।।१३।।

—इस जगत् मे समस्त द्रव्यो का समूह प्राप्त होना सुलभ है और धरणेन्द्र, नरेन्द्र और सुरेन्द्र द्वारा प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपन भी सुलभ है। क्योकि इनकी प्राप्ति कर्मों के उदय से होती है। उत्तम कुल, बल, सुभगता, सुन्दर-स्त्री आदि सभी पदार्थ सूलभ है, किंतु एक बोधिरत्न की प्राप्ति होना अत्यत दुर्लभ है।

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा, विशुद्धं यस्य दर्शनं ।
यतस्तदेव मुक्त्यंगमग्रिमं परिकीर्तितम् ।।५७।।

आचार्य श्री कहते हैं कि—जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन है, वही पुण्यात्मा है और वही महाभाग्यशाली आत्मा, मुक्त है—ऐसा

मैं मानता हूं, क्योकि सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मुख्य अंग कहा है।

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुताः ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ।।५८।।

—जो जीव, चारित्र और ज्ञान के कारण इस जगत् मे प्रसिद्ध हैं, वे भी सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष प्राप्त नही कर सकते।

अतुलसुखनिधानं, सर्वकल्याणबीजं ।
जननजलधिपोतं, भव्यसत्वैकपात्रम् ।।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं,
पिबत जित विपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ।।५९।।

—हे भव्य जीवो! तुम सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान करो। यह सम्यग्दर्शन, अतुल्य सुख का निधान है। सभी प्रकार के कल्याणो का कारण है, ससार समुद्र से तिरानेवाला जहाज है। इसे केवल भव्य जीव ही प्राप्त कर सकते हैं। यह पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है। यह पवित्र तीर्थों मे प्रधान है और अपने विपक्ष ऐसे मिथ्यादर्शन रूपी शत्रु को जीतने वाला है। इसलिए सबसे पहले इस अमृत को ही ग्रहण करना चाहिए।

आराधनासार मे लिखा है कि—

येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना, प्रोक्तं जिनेन स्वयं।
सम्यक्त्वाद्‌भुत-रत्नमेतदमलं, चाभ्यस्तमप्यादरात् ।।

भंक्त्वासंप्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्याच्च सम्यक्पर-
ब्रह्माराधनमद् भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते ।

जो मनुष्य तीन जगत् के नाथ ऐसे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित, सम्यक्त्वरूप अद्भुत रत्न का आदर सहित अभ्यास करता है, वह निन्दित कर्मों को बलपूर्वक समूल नष्ट कर के विलक्षण आनन्द प्रदान करने वाले परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

दर्शनपाहुड मे लिखा कि–

दंसणमूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोउणसकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो ।।

जिनेश्वर भगवान् ने शिष्यो को उपदेश दिया है कि 'धर्म, दर्शन-मूलक ही है। इसलिए जो सम्यग्दर्शन से रहित है, उसे वंदना नही करनी चाहिए। अर्थात्–चारित्र तभी वंदनीय है जब कि वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

चारित्र पालने मे असमर्थ जीवो को उपदेश करते हुए पूर्वाचार्य 'गच्छाचारपइन्ना' मे लिखते है कि–

जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाणं ।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागेहिं ।।
ओसन्नोऽविविहारो, कम्मं सोहेइ सुलभबोही अ ।
चरणकरणविसुद्धं, अवबूंहितो परूवितो ।।

–यदि तू भगवान् के कथानुसार चारित्र नहीं पाल

सकता, तो कम से कम जैसा वीतराग भगवान् ने प्रतिपादन किया है, वैसा ही कथन तुझे करना चाहिए। कोई व्यक्ति शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्ध मार्ग का यथार्थ रूप से, बलपूर्वक निरूपण करता है, तो वह अपने कर्मों को क्षय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य मे सुलभबोधी होगा।

'मोक्षपाहुड' मे–

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गएकाले।
सिज्झिहहि जे भविया, तं जाणइ सम्मत्तं माहप्पं।

–अधिक क्या कहे, जो उत्तम पुरुष भूतकाल मे सिद्ध हुए है वे, और जो भविष्य मे सिद्ध होगे, वे सम्यक्त्व के बल से सिद्ध होते हे। सम्यक्त्व के इस माहात्म्य को समझना चाहिये।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं॥

वे मनुष्य धन्य है कि जिनके पास मुक्ति प्रदान कराने वाला सम्यक्त्व है और उस सम्यक्त्व रूपी महारत्न को वे स्वप्न मे भी मलिन नही होने देते। वे ही मनुष्य कृतार्थ है और वे ही पडित (समझे हुए) एवं शूरवीर हैं।

मिथ्यात्वरूपी महाशत्रु का प्रबल आक्रमण होते हुए भी जिन्होने अपने सम्यक्त्व रत्न को नही खोया और सुरक्षित रखा, वे वास्तव मे शूरवीर हैं और जिन्होने अनेक प्रकार के वादो, तर्कों और प्रलोभनो के होते हुए भी अपने सम्यग्दर्शन को

निर्मल एव निष्कम्प रखा, वे यथार्थ ही पडित–समझदार हैं।

'रत्नकरड श्रावकाचार' से–

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यतनू भृताम्॥

–इस जीव को सम्यक्त्व के समान तीन लोक और तीन काल मे कोई भी कल्याणकारी नही है और मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई भी अकल्याणकारी–दु खदायक नही है।

उपदेशरत्नाकर मे–

लहिऊण मोहजयसिरि, मिच्छह जई सिद्धिपुरवरे गंतुं।
अक्खयसुहमणुभविउं, ता वरदंसणरहं भयह॥१॥
सुअचरणवसहजुत्तो, आवस्सग-दाणमाइपत्थयणो।
निच्छयववहारचक्को, दंसणरहु नेइ जणु रिद्धि॥२॥

–यदि तुम मोह-विजयरूप लक्ष्मी को प्राप्त करके उत्तम स्थान सिद्धिपुर मे जाना और अक्षय सुख का अनुभव करना चाहते हो, तो सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रथ मे बैठो, जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपी बैलो से युक्त षडावश्यक, दान आदि रूप पाथेय सहित तथा निश्चय और व्यवहार रूपी चक्र (पहियो) वाला है। यह दर्शनरथ, मनुष्य को मोक्षपुरी में ले जाकर महान् ऋद्धि का स्वामी बनाता है।

कर्त्तव्य कौमुदी–

सम्यग्दृष्टिविलोकिते हि सकलं सद्धर्म कृत्यंभवेत्।
सम्यग्दृष्टिरुदाहृता जिनवरैस्तत्त्वार्थरुच्यात्मिका॥

सद्देवः सुगुरुः सुधर्म इति सत्तत्त्वत्रयं कथ्यते ।
ज्ञात्वा तत्परमार्थतः कुरु रुचिं तत्त्वत्रये निर्मले ।।

—धर्म की जो भी क्रिया हो, वह सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होनी चाहिए। जिनेश्वर भगवंतो ने सम्यग्दृष्टि का स्वरूप तत्त्वार्थ की रुचिरूप बतलाया है। सुदेव, सद्गुरु और सद्धर्म, ये तीन तत्त्व कहे है। हे सुज्ञ! इन तीनो तत्त्वो का पारमार्थिक स्वरूप समझ और विशुद्ध स्वरूप मे रुचिवत होजा—अटल एवं दृढ श्रद्धालु बनजा।

'मोक्षपाहुड' मे लिखा कि—

गहिऊण य सम्मत्तं, सुणिम्मलं सुरगिरीव णिकंपं ।
तंज्ञाणे भाइज्जइ सावय ! दुक्खखयट्ठाए ।।

—श्रावक को सम्यक्त्व प्राप्त करके उसे निर्मल, निष्कम्प और मेरु पर्वत की तरह अचल रखना चाहिये और समस्त दुखो का नाश करने के लिए सदैव ध्यान मे रखना चाहिए।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा अपरंपार है। सभी जैनाचार्यों ने एक-मत से इस बात को स्वीकार की है, किंतु उदय के प्रभाव से कुछ लोग ऐसे भी है जो "तत्त्वार्थ श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन" को नही मानकर, अपनी मति-कल्पना से सिद्धात को दूषित करते हैं और अपनी समझ मे आवे उसको ही सत्य मानने को सम्यक्त्व कहते हैं—भले ही वे खुद भूल कर रहे हो। कुछ ऐसे भी हैं जो आगमो का अर्थ अपनी इच्छानुसार —विपरीत करके, मिथ्या प्रचार करते हुए, सम्यक्त्व को दूषित

करते हैं। और उपासको की श्रद्धा बिगाड कर उन्हे धर्म से विमुख बनाते हैं। ऐसे ही लोगो का परिचय देते हुए सूत्रकृताग १-१३-३ मे गणधर महाराज ने फरमाया है कि-

विसोहियं ते अणुकाहयं ते, जे आतभावेण वियागरेज्जा।
अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा॥

जो निर्दोष वाणी को विपरीत कहते हैं, उसकी मनचाही व्याख्या करते हैं और वीतराग के वचनो मे शका करके झूठ बोलते हैं, वे उत्तम गुणो से वंचित रहते है।

ऐसे लोगो से सावधान करते हुए विशेषावश्यक में आचार्यवर ने बताया कि-

"सव्वण्णुप्पामण्णा दोसा हु न संति जिणमए केई।
जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्जा॥१४६६॥

-सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग प्रभु के द्वारा प्रवर्तित होने से, श्री जिनधर्म मे किंचित् मात्र भी दोष नही है। यह धर्म सर्वथा शुद्ध, पूर्णरूप से सत्य और उपादेय है। किंतु अनुपयोगी गुरुओ के कथन से अथवा अयोग्य शिष्यो से, जिनशासन मे दोष उत्पन्न होते हैं। यह सारा दोष उन दूषित व्यक्तियो का है-जो अपने दोषो से जिनमत को दूषित करते हैं। इसलिए व्यक्तियो के दोष को देखकर, धर्म को दूषित नही मानना चाहिए।

इस प्रकार दूषित श्रद्धा वालो से बचकर, सम्यग्श्रद्धान को दृढीभूत करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। सम्यक्त्व को दृढीभूत करने के लिए शिक्षा देते हुए आचार्य कहते है कि-

मेरूव्व णिप्पकंपं णट्ठट्ठ-मलं तिमूढ उम्मुक्कं ।
सम्मद्दंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा ॥

—प्रवचन (जिनागम) के अभ्यास से, आठ प्रकार के मल से रहित, तीन प्रकार की मूढता से वचित और मेरु के समान निष्कम्प ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए आत्मार्थीजनो को नित्य ही जिन प्रवचन का श्रवण और पठन करते ही रहना चाहिए ।

आत्म बन्धुओ ! समझो। यह सम्यग्दर्शन ऐसी चीज नही है जो सब को अपनी मनमानी और घर जानी हो। थोडी-सी विपरीतता के कारण, जमाली मिथ्यादृष्टि बन गया, तो अपन किस हिसाब मे है ? पूर्वों का ज्ञान धराने वाले भी मिथ्यादृष्टि हो जाते है, तो आजकल के थोथे विद्वान्—कुतर्की पडितो पर विश्वास करके अपने दर्शन गुण से क्यो भ्रष्ट होते हो ? सम्यक्त्व, इन लौकिक पडितो या बडे बडे नेताओ की जेबो मे—स्वच्छन्द मस्तिष्क मे, या वाक्पटुता मे नही भरी है। वह है निर्ग्रन्थ प्रवचन मे। सम्यग् श्रद्धान की प्राप्ति परमदुर्लभ है। इस महान् रत्न को सम्हाल कर रखो। तुम्हारी बुद्धि पर डाका डालकर इस रत्न को लूटने वाले लुटेरे, साहुकारो के रूप मे कई पैदा हो गए है। उनकी मोहक और धर्म के लेबलवाली, मीठी शराब मत पी लेना। असल नकल की परीक्षा, निर्ग्रन्थ-प्रवचन अथवा ज्ञानी गुरु से करना। श्री आचाराग सूत्र १–५–६ मे लिखा है कि "पर-प्रवाद तीन तरह से तपासना चाहिए—१ गुरु परम्परा से २ सर्वज्ञ के उपदेश से ३ या फिर अपने जातिस्मरण ज्ञान

से। अभी तीसरा साधन प्राय. नही है। दो साधनो से ही परीक्षा करनी चाहिए, अन्यथा धोखा खा जाओगे और खो बैठोगे—इस दुर्लभ रत्न को।

धन्य है वे प्राणी, जो अपने सम्यक्त्वरूपी रत्न की रक्षा करते हुए दृढ रहते हैं और दूसरो को भी दृढ बनाते है। उन्हे वारबार धन्यवाद है।



"संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ, अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणंताणुबंधिकोहमाणमायालोभे खवेइ, णवं कम्मं ण बंधइ, तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ, दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं णाइक्कम्मइ" ॥१॥

हे भगवन् ! सवेग से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? उत्तर—संवेग से उत्तम धर्म श्रद्धा जागृत होती है। धर्म की उत्कृष्ट श्रद्धा करने से संवेग (मोक्ष की अभिलाषा) की शीघ्र प्राप्ति होती है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय होता है। नये कर्मों का बन्धन नही होता। मिथ्यात्व की विशुद्धि होकर दर्शन की आराधना होती है। दर्शन विशुद्धि से शुद्ध होने पर कोई तो उसी भव मे सिद्ध हो

जाते है और जो उस भव मे सिद्ध नही होते, वे तीसरे भव का अतिक्रमण नही करते अर्थात् तीसरे भव मे सिद्ध हो जाते हैं।

"धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगारधम्मं च णं चयइ, अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेदणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च णं सुहं निव्वत्तेइ" ।३।

हे भगवन् ! धर्म श्रद्धा से जीव क्या फल पाता है ? उत्तर—धर्म श्रद्धा से सातावेदनीय कर्मजनित सुख से विरक्त हो जाता है। फिर गृहस्थाश्रम छोडकर अनगार हो जाता है। अनगार होकर शारीरिक और मानसिक छेदन भेदनादि संयोगजन्य दुखो का विच्छेद कर शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

"दंसणसंपण्णयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? दंसणसंपण्णयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ परं ण विज्झायइ, परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं णाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ" ।।६०।।

—दर्शन सम्पन्नता का क्या फल है ? दर्शन सम्पन्नता से भव-भ्रमण का हेतु ऐसे मिथ्यात्व का नाश कर देता है। उसका ज्ञान दीपक कभी नही बुझता। वह उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन में आत्मा को जोडता हुआ समभाव युक्त विचरता है ।।६०।।

(उत्तरा. २६)

"सद्धं णगरं किच्चा"— (उत्तरा. ६)

कुणमाणोऽवि य किरियं परिच्चंयतोऽवि सयणधणभोए ।
दितोऽवि दुहस्स उरं न जिणइ अंधो पराणियं ।

—स्वजन धन एवं भोग का त्याग करता हुआ, दुख की उपेक्षा करता हुआ और अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता हुआ भी अन्धा मनुष्य, शत्रु-सैन्य पर विजय प्राप्त नही कर सकता; उसी प्रकार;—

कुणमाणोऽवि निवित्ति, परिच्चयंतोऽवि सयणधणभोए ।
दितोऽवि दुहस्स उरं मिच्छदिट्ठि न सिज्झई ।

—स्वजन, धन और भोग के त्यागपूर्वक, यम नियम रूपी निवृत्ति मार्ग का सेवन करता हुआ और पचाग्नि ताप आदि दु.ख की उपेक्षा करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि (सम्यक्त्व के अभाव मे) सिद्ध पद प्राप्त नही कर सकता ।

(आचाराग अ ४ की निर्युक्ति)

जह केवलम्मि पत्ते तेणेव भवेण वण्णिओ मोक्खो ।
पगरिसगुणभावाओ तह सम्मत्तेऽवि सो समओ ॥

—जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो जाय, वह उसी भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार प्रकर्षगुणत्व युक्त प्राप्त सम्यक्त्व से भी मुक्ति प्रात होती है ।

सम्यक्त्व की महिमा, उत्तम कोटि के द्रव्य चारित्र से भी अधिक है । कहा है कि—

सव्वजियाणं चिय जं सुत्ते गेविज्जगेसु उववाओ ।
भणिओ नय सो एयं लिंगं मोत्तुं ॥

—व्यवहार राशिगत सभी जीवो की ग्रैवेयक तक उत्पत्ति शास्त्रो मे कही है। ग्रैवेयक मे उत्पत्ति, विना उत्तम कोटि के द्रव्य चारित्र के नही होती।

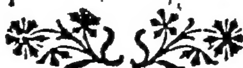
इस प्रकार व्यवहार राशीगत सभी जीवों ने उत्तम द्रव्य चारित्र तो पाया, किंतु सभी जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हुई। इसलिए उत्तम कोटि के द्रव्य चारित्र से भी सम्यक्त्व का महत्व अधिक है।

जिनधर्म विनिर्मुक्तो, मा भुवं चक्रवर्त्यपि,
स्यां चेटोऽपि दरिद्रोऽपि, जिनधर्माधिवासितः।

—(सम्यग्दृष्टि की यह भावना होती है कि) जिनधर्म से रहित होकर चक्रवर्ती होना भी मुझे स्वीकार नही, किन्तु जिनधर्म युक्त दास एवं दरिद्र होना भी स्वीकार है।



तुह समत्ते लद्धे, चिंतामणी कप्पपाय वब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ॥

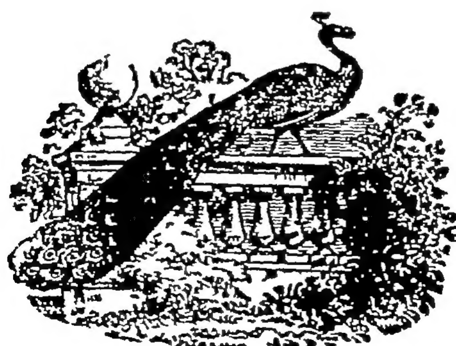


यदीयसम्यक्त्वबलात्प्रतीमो
भवादृशानां परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय
नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ?

—हे भगवन् ! आपके धर्म शासन के संबंध से उत्पन्न सम्यक्त्व के बल से, हम आप जैसे महापुरुषो के श्रेष्ठ स्वभाव (उत्तम आशय) को जान लेते है। अतएव कुवासना रूपी बन्धन को विनष्ट करने वाले ऐसे आपके शासन को हमारा नमस्कार हो।



जिणुत्त तत्ते रुइ लक्खणस्स,
णमो णमो णिम्मल-दंसणस्स ।





संघ के प्रकाशन



	मूल्य	पोस्टेज
१ मोक्षमार्ग ग्रंथ	५-००	१-७१
२ भगवती सूत्र भाग १	५-००	१-८३
३ भगवती सूत्र भाग २	५-००	१-८३
४ उत्तराध्ययन सूत्र	२-००	०-४६
५ उववाइय सुत्त	२-००	०-४९
६ जैन स्वाध्यायमाला	२-००	०-४९
७ दशवैकालिक सूत्र	१-२५	०-३७
८ अंतगडदसा सूत्र	१-००	०-२५
९ स्त्री प्रधान धर्म	०-२५	०-०८
१० सुख विपाक सूत्र	०-२०	०-०८
११ प्रतिक्रमण सूत्र	०-१६	०-०८
१२ सामायिक सूत्र	०-०७	०-०५
१३ सूयगडांग सूत्र	अप्राप्य	
१४ सिद्धस्तुति	अप्राप्य	
१५ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	१-००	०-२५
१६ नन्दी सूत्र	२-५०	०-६४
१७ आलोचना पंचक	०-१०	०-०५
१८ संसार-तरणिका	०-५०	०-१९
१९ सम्यक्त्व विमर्श		
२० आत्मसाधना संग्रह	१-२५	०-४०

सम्यग्दर्शन पाक्षिक पत्र वार्षिक ६) रु०

मुद्रक -श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना (म० प्र०)